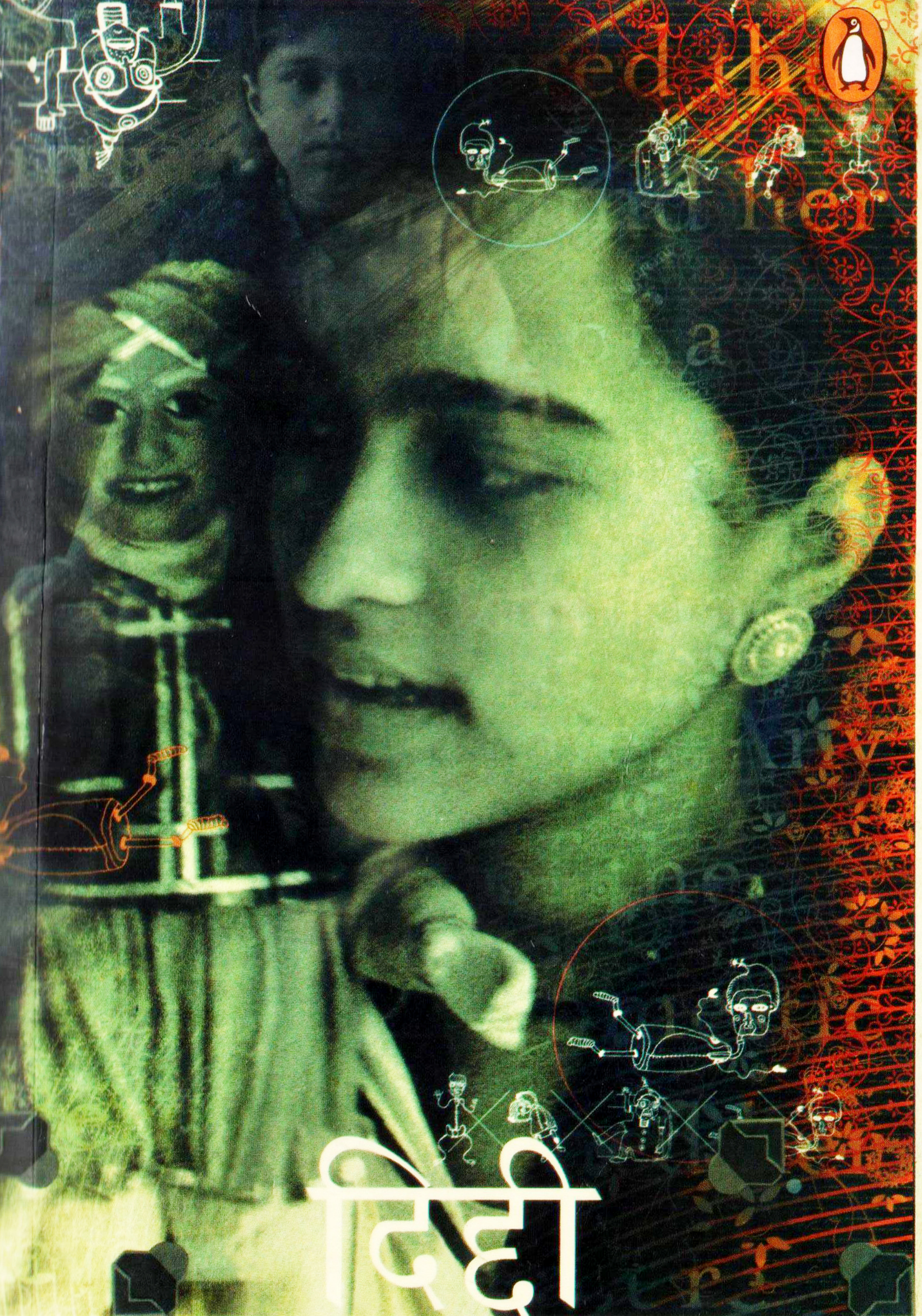


दिद्दी

हमारी मां शिवानी: इरा पांडे

Joshi Studio RAJKOT

पेंगुइन बुक्स

दिद्दी

इरा पांडे ने पंद्रह वर्ष तक यूनीवर्सिटी में पढ़ाने के बाद *सेमीनार, बिब्लियो, डॉर्लिंग किंडर्स्ले* और *रोली बुक्स* में संपादन कार्य किया। आपने कुछ टीवी कार्यक्रमों के लिए काम करने के अलावा मशहूर फ़िल्म *मॉनसून वेडिंग* में अभिनय भी किया। आपने हाल ही में मनोहर श्याम जोशी की बहुचर्चित पुस्तक *ट'टा प्रोफ़ेसर* का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है, जो पेंगुइन इंडिया से प्रकाशित हुई है। संप्रति आप स्वतंत्र लेखन, अनुवाद करने के साथ-साथ इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के प्रकाशन विभाग की मुख्य संपादक हैं।

जिया

को समर्पित

अनुक्रम

आभार

फ़रवरी 2004 में हमें पता चला कि जिया को जीभ का कैंसर हो गया है। जिया को मैंने सास कभी न माना और न उन्होंने मुझे कभी बहू समझा। हमारा रिश्ता हमेशा एक मां-बेटी का सा रहा शायद इसलिए कि हम एक-दूसरे से सब कुछ कह लेते थे। यूं समझिए कि वह मेरी अंतरंग सहेली भी थीं और मां भी। उनकी बीमारी से हम भी उतने ही आहत हुए जितनी वे थीं और मैंने इस पुस्तक को चार महीनों में ताबड़तोड़ रफ़्तार से लिखा जैसे कि जब तक पढ़ सकती थीं वे उसे किसी तरह पढ़ लें। उन दुखद दिनों को इसी पुस्तक के सहारे मैं काट पाई थी। जब उन्होंने इसे पूरा पढ़ लिया तब तक उनके लिए बोल पाना असंभव हो चुका था। इसलिए उन्होंने मुझे एक पृष्ठ पर 'इसके लिए मैं तुम्हें नोबेल पुरस्कार प्रदान करती हूं' लिखकर मूक शाबाशी दी। उनके इस आशीर्वाद और उनसे मिले अपार स्नेह की स्मृति में मैं यह पुस्तक उन्हें सादर समर्पित करती हूं।

मेरे भाई व बहनों ने मुझे दिद्दी की सब पुस्तकों से मनचाहे ढंग से खिलवाड़ करने की अनुमति ही नहीं दी, मेरी हर समस्या का समाधान भी सुझाया। नीता ने इसके हिंदी अनुवाद में मुझे अपना पूरा समर्थन ही नहीं प्रोत्साहन भी दिया। मेरी हिंदी कुछ ढीली ही है लेकिन मुझे

आशा है पाठक मुझे शिवानी के दर्जे से हटकर पढ़ेंगे।

अंत में मैं अपने तीन बेटे अपूर्व, आदित्य और आफ़ताब व बहू चिन्मया और पोती अन्वया को इस पुस्तक में नानी की यादें दिखाना चाहती हूं। अमित ने मुझे जो दिया है और जिस तरह निभाया है, उसके लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

इरा पांडे
नई दिल्ली
अगस्त, 2008

दिद्दीः हमारी मां शिवानी

हम अपनी मां को दिद्दी कहकर पुकारते थे। शायद यही कारण था कि वो हमेशा हमारे लिए मां कम, एक बड़ी बहन ज़्यादा रही: एक ऐसी बहन जो हमसे पिछली पीढ़ी में पैदा हुई थी और हमसे ज़रा फर्क थी। लेकिन उसके चले जाने के बाद मुझे ऐसा लगा जैसे वो मेरे अंदर घुस के बैठ गई है क्योंकि मुझे उसकी आवाज़ अपने अंदर निरंतर सुनाई देती थी। इतनां बोलते तो मैंने उसे तब भी न सुना था जब वह मेरे पास रहती थी। मुझे तब आभास हुआ कि यद्यपि दिद्दी ने हमेशा अपने आपको तटस्थ रखना पसंद किया, हम उससे इतने जुड़े थे कि उसके चले जाने पर मुझे लगा जैसे मेरे शरीर का एक अंग ही कट गया है। कहते हैं न कि अक्सर हाथ या पैर कट जाने के कई दिनों तक लगता है जैसे कि उनमें कोई हरकत हो रही है?

ये जानते हुए भी कि दिद्दी अपने समय की सबसे लोकप्रिय लेखिका थी, हम बच्चे उसको लेखिका के रूप में कम ही देखते थे। सच पूछिए तो इससे हमें हल्की खिसियाहट महसूस होती थी। और चूंकि अपने मुंह से दिद्दी अपने लेखन या पठन-पाठन की बातें कभी करती ही नहीं थी, हमारे घर में उसका दर्जा एक महत्वपूर्ण लेखिका का कभी नहीं रहा। न जाने उसे इस बात से कितनी चोट पहुंची होगी कि छुटपन में जो बच्चे उसकी कहानियां सुनने को मचलते रहते थे, अब उसकी रोमांटिक शैली की तारीफ़ करने से कतराते थे। इसलिए वो अपने पुरस्कार, या पाठकों की फैन मेल को हमें कभी दिखाती तक न थी।

हमारे परिवार में अपना ढिंढोरा पीट के अपनी तारीफ़ करने का शौक किसी को न था, बल्कि अपनी खिल्ली उड़वाना हम लोगों का प्रिय खेल था, इसलिए दिद्दी को किस संस्था ने कौन सा पुरस्कार दिया, किस विश्वविद्यालय ने उसे कौन सी उपाधि दी, न हमने कभी उससे ये पूछा न उसने हमें ये बताया।

इसी ग्लानि से पीड़ित होकर दिद्दी के चले जाने के बाद मैंने प्रण किया कि मैं उसकी सब किताबें पढ़ूंगी। मुझे ये कहते हुए शर्म आती है कि इनमें कई किताबें ऐसी थीं जिन्हें मैंने कभी खोलकर देखा भी न था। लेकिन उन्हें पढ़ लेने के बाद, मुझे आभास हुआ कि जिन पचास सालों में उसने अपनी सबसे लोकप्रिय कहानियां व उपन्यास लिखे, उन्हीं पचास सालों में उसने सैकड़ों लेख, निबंध, सफ़रनामे और स्तंभ भी लिखे थे, जिनमें उसने अपने जीवन की कई ऐसी बातें लिख डालीं थीं जिनसे जुड़ी कई पुरानी बातें, कई क़िस्से मुझे अब याद आने लगे। कुछ कहानियां हमने दिद्दी के ही मुख से सुनी थीं, और कुछ तब पढ़ीं थीं जब वे पहले लिखी गई थीं। अचानक मुझे ये लगा कि जब तक मैं इन यादों को लिखकर अपने अंदर से न निकाल लूंगी, दिद्दी मेरे अंदर बैठ के निरंतर बोलती ही रहेगी।

इस पुस्तक को पाठक दिद्दी की जीवनी नहीं मानें—मैंने इसे लिखते समय ये कभी न सोचा कि इसमें मैं उसके साहित्यिक जीवन के सफ़र को रूप दूं। मेरा उद्देश्य केवल ये था कि मैं किसी तरह उसकी खोई हुई आवाज़ को अपने अंदर से ढूंढ़ के उसके पाठकों तक पहुंचा दूं। लेकिन इस खोज में मुझे एक ऐसा ख़ज़ाना मिला और मेरे सामने ऐसा व्यक्तित्व उभरने लगा जिसमें आवाज़ ही नहीं सभी इंद्रियों का एक अनोखा सम्मिश्रण था। दिद्दी की लेखनी के जादू से मैं मुग्ध होती चली गई। न जाने दिद्दी ने यह जादू जानबूझकर रचा, और न जाने इस जादू को किसी ने इस दृष्टि से कभी देखा था कि नहीं। हो सकता है दिद्दी की लेखनी को ऐसा वरदान था कि वो किसी भी कहानी में छिपे सत्य को बहुत सहजता से, बिना किसी आडंबर के, प्रस्तुत कर सकती थी। मुझे तो लगता है कि वो ख़ुद इस गुण को गुण न समझते हुए अपनी कथा-जगत में खो जाती थी। या हो सकता है, अपने दुख और पीड़ा को छिपाने का उसे

यही एक रास्ता दिखता था।

ऐसा कई बार देखा गया है कि लेखक स्वयं अपने उपन्यास में एक पात्र बनकर पाठक के सम्मुख उभर आता है। सब लेखकों के बारे में ऐसा कहा जा सकता है कि नहीं, ये तो मैं नहीं कह सकती, लेकिन हां, दिद्दी अपने हर उपन्यास या कहानी में कहीं न कहीं अपने पाठक को मिल जाती है, और अक्सर उसे इस बात का आभास तक न होता था। मेरा मानना है कि वो अपने ही मायाजाल में इतनी विलीन हो जाती थी कि फिर वो इस काल्पनिक दुनिया से अपने आपको अलग नहीं कर पाती थी। वो अपनी आवाज़ को अपनी कृतियों में ऐसे दबा के छोड़ गई कि जब वो हमेशा के लिए ख़ामोश हो जाए, तो भी हम उस आवाज़ को न भुला पाएं। जिस तरह वो अपने हर बच्चे में अपना एक अंश छोड़ गई, ठीक उसी तरह दिद्दी ने अपनी हर कहानी या उपन्यास में अपने जीवन का एक अंश रख छोड़ा है।

इस पुस्तक को उसी छिपे जीवन की एक खोज मान लीजिए।

दिद्दी ने अपनी श्रेष्ठ कहानियां उन स्मृतियों से रचीं जो उसे सबसे प्रिय थीं—अपने बचपन और किशोरावस्था की। बार-बार, हमें उसके कथा साहित्य में कुमाऊं या बंगाल के दृश्य मिलते हैं क्योंकि इन्हीं से उसकी सबसे सुखद स्मृतियां जुड़ी थीं। जिस तरह कोई बच्चा अपनी मां का हाथ पकड़ के अपने को सुरक्षित मानता है, दिद्दी को इन स्मृतियों से ऐसी शक्ति मिलती थी कि उनका सहारा लेकर वह निडर होकर लिख सकती थी। मुझे लगता है उसका एक अंश हमेशा अपने बचपन के घर की मुंडेर पर खड़ा नीचे चलते लोगों को देखकर ये सोचता रहता था कि तुम कितने अभागे हो कि तुम्हारा जन्म हमारे परिवार में नहीं हुआ!

दिद्दी के बचपन की दुनिया के विवरण में स्मृतियों और काल्पनिक कथाओं का एक अद्भुत मिश्रण मिलता है। कभी कोई किस्सा सत्य कथा बन के पाठक के सामने आता है, तो कभी वही एक काल्पनिक घटना बन जाती है। सच तो ये है कि हम सब दिद्दी के लिए हाड़-मांस के प्राणी भी थे और कल्पना

के पात्र भी। मुझे अब लगता है कि हमारे जीवन को नियंत्रित करने का उसके पास यही तो एक तरीका था। तभी वो हमारे दुख-सुख की कहानियां लिख पाती थी—तभी वो हमारे दुख-तकलीफ़ से अपने को मुक्त कर पाती थी। उसे जीवन के अप्रिय सत्यों से भागने की ऐसी आदत थी, कि वो उस सत्य का चित्रण केवल कथाओं में कर सकती थी। अब समझ में आता है कि चाहे वो लाख बार हमसे कहती थी कि वो हम सबसे तटस्थ रहना चाहती है, सच ये था कि वो कभी अपने आपको हमसे दूर नहीं रख पाई। और जब हम सब एक-एक कर उसके जीवन से दूर होते चले गए, तो उसने हमें पकड़कर अपनी कहानियों में बंद कर लिया। अपने बच्चों को अपने से चिपकाकर रखने का उसने ये एक अनोखा तरीका निकाला था—उनको कहानियों में पकड़ के कैद कर लो।

लेकिन दिद्दी ये भी जानती थी—शायद यहां ज़्यादा उपयुक्त ये कहना होगा कि उसको इस बात पर भरोसा था—कि संसार की लीला देखने में जो आनंद है वह स्वर्ग के दिव्य दर्शन से कोई कम नहीं। वो जानती थी कि अपने रामझरोखे में बैठकर उसे कितने नाटक देखने को मिलते हैं, और कितनी कहानियां सुनाई देती हैं। किसी और के जीवन या घर में घुसने से उसे कैसे-कैसे प्लॉट मिले, कितने चित्र जिन्हें वो अपने पाठकों को दिखाती चली गई। दिद्दी की सी चंचल प्रवृत्ति के इंसान को एक जीवन, एक जोड़ा आंख, या एक ही हृदय से कहां चैन था! इसीलिए जब उनके अपने परिवारों ने उसके बच्चों को उससे छीन लिया, तो उसने अपने लिए लखनऊ में एक नए परिवार की सृष्टि कर ली और उनकी रानी बन के उन पर राज्य करने लगी। मेरी बहन मृणाल—जिसके स्वभाव में मुझे दिद्दी की सबसे स्पष्ट झलक दिखाई देती है—ने दिद्दी का नाम क्वीन लियर रख दिया था, क्योंकि दिद्दी भी शेक्सपियर के प्रसिद्ध पात्र लियर की भांति, हमेशा एक निजी विदूषक को साथ लेकर सफ़र करती थी। दिद्दी की प्रिय नौकरानी रामरती, दिद्दी का ऑल्टर-ईगो बनी और उसका परिवार दिद्दी के दरबार के मुंहलगे सदस्य। यहां कई अनोखे दरबारी आते थे—एक हिजड़ा—नाम मोहब्बत, एक दूधवाला, एक सब्ज़ी बेचनेवाला— नाम सुलेमान, एक डाकिया,

और दिद्दी का वफ़ादार रिक्शेवाला, कुतुब अली। कभी-कभी वहां एक बंदरिया भी पहुंच जाती थी—जिसका नाम दिद्दी ने रामकली रख छोड़ा था। दिद्दी का कहना था कि वो पढ़ी-लिखी लगती थी क्योंकि अक्सर वो दिद्दी का चश्मा पहन उसका अख़बार भी पढ़ लेती थी। इसी अनूठी दुनिया से उमड़ते क़िस्से-कहानियों के भंडार से दिद्दी ने एक भव्य साहित्यिक संसार बना डाला।

दिद्दी की एक ख़ूबी थी अपने चारों ओर ऐसे लोगों को जमा कर लेना जो सामाजिक एवं मानसिक दृष्टिकोण से उससे बहुत भिन्न थे, लेकिन जिनके दिल शीशे की तरह स्वच्छ थे। इन लोगों से दिद्दी को न छूत थी न घिन। घृणा थी उसे उन ढोंगियों से जिनकी मानसिकता नीच और तुच्छ थी। यही कारण था कि उसके सेवक उसके अनन्य भक्त बन जाते थे। 'एक थी रामरती' में उसने लिखा है:

> गुरुवर द्विवेदी जी ने अपने एक भाषण में कभी बड़ी महत्वपूर्ण बात कही थी: 'आपके इर्द-गिर्द जो जनता है, वह बहुत बड़ी चीज़ है। उसकी परंपरा महान है, उसी को आप अपने अध्ययन का प्रधान विषय बनाएं। आपको इसी जनता के निकट संपर्क में रहकर कार्य करना है। आसपास की जनता की भाषा, विचार, जाति-पांति, रहन-सहन, धर्म-कर्म सब कुछ के विषय में ज्ञान-संग्रह करने का प्रयत्न कीजिए, पुस्तकालय और संग्रहालय को अपने कार्य का अत्यंत आवश्यक अंग तो समझिए ही, किंतु जनता को प्रबुद्ध बनाना आपका काम है। उसे इस योग्य बनाएं कि वह अपने अतीत को समझ सके, वर्तमान को देख सके और भविष्य को बना सके। अर्थात, जनता से ही सीखें, उसी को सिखाएं।'

तो चलिए अल्मोड़ा जाते हैं, जहां से ये कहानी शुरू होती है।

अल्मोड़े से जुड़ी मेरी पहली स्मृति है अपने पिता के कैंटूनमेंट वाले घर की, जहां मैं तीन वर्ष की आयु तक रही। उस घर की कुछ धुंधली याद है—

लाल टीन की छत, मुर्गियों का पाड़ा, और बगीचे में एक सुंदर सा लकड़ी का पविलियन। हमारे घर के ऊपर पहाड़ी पर था अल्मोड़े का भव्य सर्किट हाउस और इन दोनों के बीच थे देवदार के ऊंचे वृक्ष। दूर नीचे, पत्थर जड़ी सड़कों के बीच स्थित था अल्मोड़े का प्रसिद्ध लाला बाज़ार, जहां दुकानदार दिनभर हुक़्क़ा पीते और शतरंज खेलते थे। लेकिन इन धुंधली यादों मे जुड़ी कई ख़ुशबुएं और आवाज़ें अभी तक ताज़ा हैं। गर्मियों में मोटे भंवरों की गुंजन और चीड़ के पेड़ों की सांय-सांय, और जाड़ों में घर के चारों ओर कव्वों की उदास कांय-कांय...

वैसे हमारा ज़्यादा समय शहर के उस पार अपने ननिहाल में बीतता था, इसलिए मुझे वो घर अच्छी तरह याद है। हमारे ननिहाल का घर कसून, एक रिज पर बना था जहां से पूरे अल्मोड़े का नज़ारा देखने को मिलता था। घर के सामने था एक बड़ा सा आंगन और ऊपर की मंज़िल में था काठ का एक बड़ा सा बरामदा। दोनों मंज़िलों के बीच लकड़ी का एक चोर दरवाज़ा था जिससे नीचे की मंज़िल की बैठक और घर की पुरानी लाइब्रेरी लगे थे। हमारी नानी, जिन्हें हम सब आमा कहते थे, गुदगुदी, पोपली व दंभी महिला थीं, जो अपनी सुंदर बेटियों, नाती-पोते और असंख्य दत्तक पुत्र-पुत्रियों के साम्राज्य को चलातीं थीं। वे ऊपर की मंज़िल में ही रहना पसंद करतीं थीं और हमने उन्हें कभी किसी के घर आते-जाते नहीं देखा। इसके बावजूद, उन्हें पूरे शहर की ख़बर रहती थी। हमारे मामा त्रिभी के बच्चों पर उनका विशेष प्यार न्योछावर होता था, लेकिन हम सबको इससे न तो जलन होती थी न आश्चर्य।

उस समय के प्रचलन के अनुसार, अल्मोड़े में आपका सामाजिक दर्जा न तो आपके वैभव से और न ही आपके ओहदे से जुड़ा होता था। असल बात थी आपका कुल और गोत्र। अल्मोड़ा अलग-अलग मोहल्लों का शहर था— चंपा नौला, विष्टाकुड़ा, झिझाड़, सेला खोला, त्यूनारा, ढूंगा धारा, पांडे खोला, जीवन पुर, गल्ली, मल्ला कसून, तल्ला कसून। ये शहर के खांटी ब्राह्मण परिवारों की हवेलियों के नाम थे जिनके सदस्य सदियों से आपस में शादी-व्याह के रिश्तों में बंधे हुए थे। ज़ाहिर है, हर परिवार में पागलों की कोई कमी न थी। दिद्दी के परिवार की एक पूरी शाखा को हम लोग बहुत प्यार से "तल्ला कसून के

पागल" के नाम से पुकारते थे। आमा का कहना था कि उस परिवार के एक ज़मींदार ने अपने किसी मज़दूर की हत्या की थी और उन्हें ऐसा शाप दिया गया था कि उनके परिवार में गाय का बछड़ा तक नहीं पनपता था। वाक़ई वहां के लोगों का ऐसा ही हाल था। वहां के दो सदस्य, भगवत दा और मोहन दा, जो रिश्ते में हमारे मामा थे, निहायत प्यारे पागल थे और अक्सर आमा से मिलने कसून आते थे। जब हम उन्हें देखते, हम उनसे ऐसे ही मिलते जैसे किसी अन्य मामा से—यानी, हम उनके पैर छूकर प्रणाम करते बावजूद इसके कि उनकी पोशाक निराली होती थी। भगवत दा चिथड़ों से लिपटे, हाथ में एक डंडा लिए आते थे, जिसमें चिड़िया के पंख, रिबन के टुकड़े और कई चिथड़े फर-फर हवा में उड़ते थे। आंगन पार कर, वे सीधे बैठक में घुसते जहां एक पुरानी पिंग-पोंग की मेज़ थी। गेंद उठाकर, भगवत दा अपने आपसे एक मैच खेलना शुरू कर देते। मेज़ के एक छोर से बॉल उधर फेंक के कहते, "वन लव!" फिर दौड़ के दूसरी तरफ़ जाके बॉल फेंकते और कहते, "वन ऑल!" जब इस मैच से उनका मन भर जाता तो वे ऊपर आमा से मिलने चल देते, एक गिलास गर्म चाय पीकर, फिर नेपथ्य में विलीन हो जाते। भगवत दा की शादी हो चुकी थी और उनकी बहादुर पत्नी एक स्कूल में नौकरी कर परिवार को ठेलती थीं। एक बार बेचारी रोती हुई हमारे पिता—जो तब शिक्षा विभाग में थे—के पास आई कि अल्मोड़े से उनका तबादला किसी और शहर करवा दिया जाए। पता चला कि भगवत दा उनके स्कूल में आकर उनकी कक्षा में बैठ जाते थे और हर सवाल का उत्तर देने के लिए हाथ उठा देते थे। कहना न होगा कि जब कक्षा के सारे विद्यार्थी इसका मज़ा लेते थे, तो उनकी पत्नी को क्या सहना पड़ता होगा। स्पोर्ट्स डे पे, वे हर रेस में दौड़ के अपने आप को मंच पर विजयी घोषित करते थे और ज़ोर से ऐलान करते, "भगवत, सर्व प्रथम!"

आंगन से लगे खेतों के पार रहते थे मायाराम जी। किसी ज़माने में वे हमारे नाना के ड्राइवर थे, अब वे हमारे त्रिभी मामा के चीफ़ मुसाहिब थे, और उन्हें "हाइनेस" कह के पुकारते थे। पीठ के पीछे हाथ बांधे, वे सिगरेट का

धुआं छोड़ते हुए मामा के पीछे आंगन में चहलक़दमी करते। जिस कोठरी में कभी घर की गाय-भैंस बंधी रहती थीं, वहां तारा दीदी का परिवार रहता था। तारा दीदी के पति बर्मा में समृद्ध ठेकेदार थे: जब उनकी अचानक मृत्यु हो गई तो वे किसी तरह अपने परिवार को लेकर अल्मोड़ा पहुंच गईं। आमा ने उनके परिवार को अपने घर में शरण दी और यही कारण था कि वे जीवन भर आमा की अनन्य भक्त बनी रहीं और उनकी सेवा करती रहीं। तारा दीदी की रसोई से गर्म-गर्म रोटियों और प्यार की सुगंध मुझे अच्छी तरह याद है।

इस दुनिया से बिल्कुल पृथक था मेरे पिता का कैंटूनमेंट वाला घर। हमारे पिता, जिन्हें हम बाबू कहते थे, को शोर और ऊंची आवाज़ में बोलना बेहद नापसंद था। न उन्हें ये पसंद था कि दिद्दी हम बच्चों को लेकर रोज़ अपनी मां के घर पहुंच जाती थी। शायद वे ये नहीं जानते थे कि दिद्दी को कसून के पागल प्राणियों से कितना लगाव था, वहां के हंसी के ठहाके उनके कान तक कम ही पहुंच पाते थे। हम बच्चों के लिए कसून का मतलब था हल्ला-गुल्ला, शोर-शराबा, हंसी-मज़ाक़ और आमा के परिवार की सौंधी ख़ुशबू। बाबू के घर का मतलब था शालीन भाषा, फुसफुसाके बोलना और एक गहरी चुप्पी। कसून का सबसे बढ़िया वर्णन दिद्दी की लेखनी में मिलता है। आगे पढ़िए।

1

चिरसाथी मोर

प्रकृति की यह एक सुखद देन है कि मनुष्यों को उसने विस्मरणशील बनाया है। भूल जाना भी एक शक्ति है, किंतु जैसे-जैसे जीवन की अवनतमुखी संध्या घनीभूत होती है, वैसे-वैसे अचेतन मन में छिपे अनेक विस्मृत चेहरे प्रकाशपुंज बनकर हमारा पथ-प्रदर्शन करने लगते हैं। जब आधुनिक युग की आधुनिकतम औषधियां, तन एवं मन की व्याधियों को दूर करने में असमर्थ हो उठती हैं, तब ही दादी-नानी के अचूक नुस्ख़ों की भांति उन विस्मृत व्यक्तियों के प्रेरणाप्रद वाक्य हममें नई स्फूर्ति एवं नई ऊर्जा का संचार सहसा कर उठते हैं। जब कभी जीवन में कोई संकट आया है, ऐसा संकट, जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी, जब दैवी वज्रपात ने मेरुदंड हिलाकर रख दिया, लोहनीजी की बचपन में बार-बार श्रुतिलेख में लिखाई गई वे पंक्तियां स्वयं हाथ थाम लेती थीं:

तुलसी असमय के सखा धीरज धरम विवेक
साहित, साहस, सत्यव्रत रामभरोसे एक

हमें वे नित्य ये ही पंक्तियां लिखने को देते और हम कभी झुंझलाकर कहते, “आपको कोई और दोहा-चौपाई नहीं आती क्या?”

आज सोचती हूं, शायद वे जानबूझकर ही ये पंक्तियां बार-बार हमसे लिखवाते थे—कि उस कच्ची वयस में भले ही उन पंक्तियों का

गूढ़ार्थ समझने की शक्ति हममें नहीं थी, किंतु रसरी के 'सिल पर पड़त निसान' की भांति वे आढ़े वक़्त हमारे काम आएंगी। उनका नाम था पुरुषोत्तम और उनका व्यक्तित्व भी उनके नाम को सार्थक करता था। ऊंचा डीलडौल, गोरा रंग, घनी मूंछें, बड़ी-बड़ी लाल डोरीदार आंखें और तीखी नाक के नीचे पुष्ट मूंछों से ढके पृथुल अधरों पर सामान्य स्मित का आभास नहीं। उनका कहना था कि हमारी मां के विवाह के एक वर्ष पूर्व, हमारे गृह में उनकी नियुक्ति हुई थी, इसी से अम्मा के दादी-नानी बन जाने पर भी वे उनके लिए 'धुलैंणी ज्यू' (दुल्हनजी) ही बनी रहीं। आए थे हमारे अटाले का भार संभालने, पर कुछ ही वर्षों में, हमारे गृह के सब ही महत्वपूर्ण पोर्टफ़ोलियो उनकी मुट्ठी में स्वयं सरक गए। खाना बनाने का भार उन्होंने अपने छोटे भाई देवीदत्त को सौंप दिया था। वे स्वयं अनायास ही हमारे उस गृह के गृह सचिव, वित्त सचिव एवं सूचना प्रसारण सचिव के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे—जहां आए दिन महिमामय अतिथिगण छप्पर फाड़कर टपकते रहते थे—मदनमोहन मालवीय, स्वामी नित्यानंद, सर गिरजाशंकर, सर सुल्तान अहमद, डॉ. अंसारी, पहलवान राममूर्ति, विभिन्न रियासतों के राजकुमार, जिनमें दतिया के महाराजकुमार 'बुलबुल' तो पूरे एक वर्ष तक हमारे गृह के सदस्य बनकर रहे। आतिथ्य निर्वाह का पूरा भार लोहनीजी पर ही छोड़ दिया जाता। उस पर पूजा-पाठ, रुद्र पार्थिव पूजन, जन्मदिन, अशौच निवारण यानी हमारे गृह के जन्म से लेकर मृत्यु तक के प्रत्येक अनुष्ठान का पौरोहित्य पूरे पचास वर्षों तक उसी विलक्षण व्यक्ति ने संभाला। उनका स्वयं अपना भरा-पूरा परिवार था, दो पुत्र, एक पुत्री, जामाता और स्वयं उन्हीं के शब्दों में उनकी प्राणप्रिया उनकी 'बामणी,' जिनसे मिलने वे वर्ष में एक ही बार जा पाते थे। ऐसे निस्वार्थ, स्वामीभक्त सेवक की क्या इस युग में हम कल्पना कर सकते हैं।

हम भाई-बहनों में हम चार ही उनके अधिक सान्निध्य में रहे।

मेरी सबसे बड़ी बहन चंदा, जो लोहनीजी के शब्दों में 'शापभ्रष्ट गंधर्व कन्या थी,' उनकी सबसे प्रिय गृहसदस्या थी—"भगवान की माया देखो, जन्मी तो मैंने ही पहले गोद में लिया, गई तो मेरी ही गोद में सिर रखकर।"

मेरे भाई त्रिभुवन, कुछ अपने भव्य व्यक्तित्व के कारण और कुछ दो पुत्रियों के बाद जन्मे पुत्र होने के नाते, घर भर की आंखों के तारे थे। लोहनीजी को 'परखिया' कहकर भी पुकारते तो वे उनकी अक्खड़ अशिष्टता को हंसकर झेल लेते।

असल में 'लालसैप' (लाल साहब)—वे मेरे पिता को इसी नाम से पुकारते थे—"एक ही भूल की, बाद में समझेंगे, जिस लंगूरी क़ौम के पास इसे पढ़ने भेजा है, वह ऐसी ही तो शिक्षा देगी! अरे, जो दिशा-जंगल भी लोटा लेकर नहीं, काग़ज़ लेकर जाते हैं, वह तामसी क़ौम इसे क्या सिखाएगी? नाम जाते ही बदल दिया है, अब देखो, पूरा संस्कार भ्रष्ट कब करते हैं!"

त्रिभुवन तब नैनीताल में एक स्वतंत्र बंगले में रह, दो विदेशी गवर्नेस मिस एवं मिसेज़ ममफ़र्ड से शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। उन्हीं ने उनका नया नाम धरा था 'टिकर'! छुट्टियों में घर आते तो लोहनीजी का पारा गर्म हो जाता, "हद है, अब रोटी भी छुरी-कांटे से खाने लगा है! मेरी मानो धुलैंणी ज्यू तो जितनी जल्दी हो सके, इसके गले में जनेऊ डाल दो! वो साली दुर्मुखी मेमों की मूठ फिर इस पर नहीं चल पाएगी।"

और फिर उन्हीं की ज़िद से बड़ी धूमधाम से त्रिभुवन का यज्ञोपवीत संस्कार ओरछा में संपन्न किया गया। वह धूम-गरज क्या किसी शादी-ब्याह से कम थी? टीकाराम पंडितजी काशी से अपने साथ वेदपाठी ब्राह्मणों की पूरी टीम लेकर पधारे थे। सोने-चांदी की अंबारी से सजा महाराज बीरसिंह देव जू का हाथी, बिजली की रंगीन जगमगाहट

से नई-नवेली दुल्हन सी सजी हमारी कुंडेश्वर की कोठी! बालबटुक के मान में गायत्री फूंककर लोहनीजी ने कहा था, ''आज से तू फिर त्रिभुवन बन गया है समझा? टिकर नहीं...''

शायद उनकी ही प्रबल इच्छाशक्ति का चमत्कार था कि सहसा हम तीनों भाई-बहनों की शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन कर दिया गया। हमें पितामह की छत्रछाया में भेज दिया गया। गार्डियन बने लोहनीजी। संस्कृत पढ़ाने आते गंगादत्त शास्त्री। गणित पढ़ाते रघुवर दत्त जोशी, जो तब कुमाऊं के रामानुजम थे। अंग्रेज़ी पढ़ाते स्वयं पितामह। सुबह पांच बजे उठना अनिवार्य था। फिर हाथ-मुंह धोकर, लोहनीजी त्रिफला से आंखें धुलवाते और फिर अपने साथ लंबी सफ़ारी पर पैदल घुमाने ले जाते। लौटते ही लोहे की कड़ाही में औंट रहे दूध से छलकते गिलास थमाकर वे अपनी सुदीर्घ पूजा में जुट जाते। उस अमृतस्वरूपी दूध की घूंट अभी भी जीभ पर धरी है। अल्मोड़े का 'फालसिमा' ग्राम तब अपनी दूधों नहाई बिरादरी के लिए प्रसिद्ध था। वहीं का ग्वाला नागमल लोहनीजी से थरथर कांपता था। मजाल, जो कभी .एक बूंद पानी मिलाने की धृष्टता कर सके!

''देख रे नागमलिया, कभी बूंद भर भी पानी मिलाया साले, तो हम ब्रह्मतेज से तुझे भस्म कर देंगे...''

''कैसी बातें करते हो गुरु, पानी और इस घर के दूध में? ऐसा जिस दिन करूं, गोहत्या का पाप लगे मुझे—राम-राम!''

एक नागमल ही नहीं, घर भर के नौकर-नौकरानियां, बाज़ार के दुकानदार, फेरीवाले उनके ब्रह्मतेज से थरथर कांपते थे। सब जानते थे कि वे प्रसिद्ध संत नारद बाबा के साथ रहे हैं और दिवंगत बाबा का अदृश्य साया उनके साथ निरंतर चलता रहता है। उनका शाप कभी व्यर्थ नहीं जा सकता।

तब अल्मोड़ा में बहू-बेटियों के बाज़ार जाने पर कठोर प्रतिबंध

था। वर्ष में केवल दो बार हमें जाने की अनुमति मिलती—एक नंदादेवी के डोले पर और दूसरी दीवाली पर। वह भी हमें पितामह के उतने ही कट्टर मित्र बद्रीलाल साहजी की नक़्क़ाशीदार अटारी से ही झांकने भर की। किंतु मैं वयस में छोटी थी, इसी से लोहनीजी प्रायः ही मुझे अपने साथ ले जाते, किंतु उनके हाट पर्व का आरंभ एवं अंत होता उनके परम प्रिय मित्र सुंदरलाल साह की दुकान पर। गत वर्ष लगभग चालीस वर्ष पश्चात उस चिरपरिचित दुकान को देखा, तो दंग रह गई। इतने सदीर्घ अंतराल में भी न दुकान बदली है, न दुकानदार! सुंदरलाल साह का वही चिकना-चुपड़ा गोरा चेहरा और ललाट पर वैसी ही चंदन की बिंदी! तब लोहनीजी को देखते ही उनका चेहरा खिल उठता था, "आओ, आओ गुरु! कहो, क्या ख़बर है ताज़ा?"

वयस में पर्याप्त अंतर होने पर भी उनकी बातों का जैसे अंत ही नहीं होता। मैं बुरी तरह ऊब उठती। एक तो परचून की दुकान, जम्बू, गंध्रेणी जैसे तीव्र पहाड़ी मसालों की सिर चकराने वाली ख़ुशबू, उस पर दोनों मित्रों की अशेष बतकही—मुझे चुप कराने साहजी कभी दाड़िमाष्टक की पुड़िया थमा देते, कभी स्वादिष्ट काली, सफ़ेद धारीदार 'वुल्स आई,' जिसे खाना और बनाना शायद अब लोग एकदम ही भूल गए हैं। पर फिर भी मैं कुनमुनाने लगती—"चलो ना, लोहनीजी बाज़ार..."

"चुप कर लड़की, यह बाज़ार नहीं तो और क्या है? जानती है ना औरतों को बाज़ार नहीं देखना चाहिए—सुना नहीं तूने..."

सैंणि कै नी देखाओ बाजार
बैग कै नी देखाओ भनार

(स्त्री को बाज़ार और पुरुष को भंडार नहीं दिखाना चाहिए।)

पर तब रामजे स्कूल के सामने अशेष पंक्ति में बिखरी बिसातियों की दुकानों में, कुमाऊं की प्रत्येक किशोरी के प्राण बसते थे। नक़ली

मूंग की मालाएं, चमचमाते चंदनहार, चूड़ियां, बालों के रंगीन फंदनों में लगे घुंघरू, जिन्हें चोटी में गूथ, जानबूझकर इधर-उधर फेंक लड़कियां हवा में उड़ी चली जाती थीं। लकड़ी का वह लट्टू, जिसे फेंकने का एक ख़ास अंदाज़, उसे ऐसी विलंबित चकरघिन्नी में देर तक घुमाता रहता कि आज इलेक्ट्रिक खिलौनों की आभा भी फीकी पड़कर रह जाए! कभी-कभी लगता है कि आज विज्ञान ने बच्चों के खिलौनों की दुनिया ही बदल दी है, किंतु उनके बालसुलभ स्वाभाविक उस उल्लास को छीन लिया है, जो कभी हमारे बचपन की मुट्ठियों में बंद था। पतंग उड़ाना, कांच पीसकर मंजे को तीखा बनाने में भाई को स्वेच्छा से दिया गया उत्साहपूर्ण सहयोग, गिट्टियों की वह सधी उछाल, वह 'मुट्ठी,' 'इक्कम,' 'दोयम'—उधर एक गिट्टी हवा में उछाली और उसी दक्ष तत्परता से धरती पर पसरी चारों गिट्टियों को मुट्ठी में बांध, ऊर्ध्व प्रक्षेपित गिट्टी भी साध ली! एक पैर उठा-उठा चौकड़ियों में पत्थर चूमकर फेंकना, हमारे ये सब व्याकरणी सूत्र ही बदल गए हैं। फिर भी कभी ये कौशल, जिन्हें हम बड़े परिश्रम और लगन से सीखते थे, आज किसी शून्य अंतरिक्ष में विलीन हो गए हैं।

आज इलेक्ट्रिक खिलौनों का संसार बच्चों के लिए सहज-सुलभ बन गया है, इसी से शायद बच्चे अपने नवीनतम खिलौनों से भी ऊब उठते हैं, जबकि हमारी 'किरकैंची' या 'मछली मछली कित्ता पानी' वर्षों तक खेले जाने पर भी कभी बासी नहीं लगे। कपड़े की बनी गुड़िया, जिसे बनाने में मेरी बहन जयंती की विशेष ख्याति थी, मुझे इतनी प्रिय थी कि एक दिन जब भाई से झगड़ा होने पर उसने मेरी अनुपस्थिति में उसे चूल्हे में झोंक दिया तो मैं उसकी अकाल मृत्यु पर फूट-फूटकर रोई थी।

(परमतृप्ति से)

तब हम अपने पितामह के साथ अल्मोड़ा में रहते थे।

हमारे पड़ोस में एक ईसाई परिवार रहता था। कभी उस घर के गृहस्वामी डेनियल पंत से हमारा ननिहाल का रिश्ता था, किंतु हमारे कट्टर सनातनी पितामह का कठोर आदेश था कि हम उस ओर कभी आंख उठाकर भी न देखें। हमारे और उनके घरों के बीच एक सामान्य सी ऊंची दीवार की ही ओट थी, इसी से उनके बावर्चीख़ाने में नित्य पक रहे सालन की मदमस्त ख़ुशबू बड़े धड़ल्ले से हमारे रसोईघर तक चली आती और हमारे ठेठ सनातनी चौके में पक रहे दाल, आलू की सब्ज़ी की सात्विकी निरीह सुगंध को पराजित कर, हमारे नथुनों में घुस, हमें विवेकभ्रष्ट कर उठती। हमारे लोहनीजी पचासों ग़ालियां देते तड़के ही खिड़कियां-दरवाज़े बंद कर देते। फिर भी दरारों को कौन बंद कर सकता था! उस परिवार के बच्चों से, हम लुक-छिपकर मिलते तो थे ही, कुछ रक्त का संबंध और कुछ उनके आज़ाद स्वच्छंद जीवन ने हमें मैत्री की अटूट डोर में बांध लिया था। चमचमाते जूते, धारीदार मोज़े, वोर्स्टेड की हाफ़ पैंट और बगुले के पंख से कड़े कलफ़ किए गए कॉलर में संवरी क़मीज़, टाई और विशिष्ट सज्जा में संवरा बालों का झुग्गाधारी हेनरी मेरा प्रिय मित्र बन गया। उसकी बहनें ओल्गा, बेहद दुबली म्यूरियल (जिसे हम पीठ पीछे मरियल कहते थे) संध्या होते ही बैमबर्ग जॉर्जेट की साड़ियों में सजी-धजी अकेली ही घूमने निकलतीं तो हमारी छातियों पर सांप लोट जाता।

''क्या ज़िंदगी है इनकी!'' मेरा भाई कहता, ''एक हम हैं, या 'अमरकोश' या 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस'... जानती है हेनरी, आर्थर रोज़ अंडा खाते हैं।''

"सच?"

"और क्या, रोज़ गोश्त बनता है।"

हेनरी पंत ने पुष्टि की, "बिना गोश्त के हमारे गले के नीचे गस्सा नहीं उतरता, तुम हिंदुओं की तरह हम चरी-भूसा नहीं खाते..."

"यह क्यों भूल जाते हो हेनरी कि तुम्हारे बाबा हमारे नाना चचेरे भाई थे, कभी उन्होंने भी यही चरी-भूसा खाया होगा..." मेरे जवाबी हमले से हेनरी खिसिया गया और उसी खिसियाहट को मिटाने, उसने तत्काल वह उदार प्रस्ताव रखा, जिसने लगभग हमारे प्राण ही कंठगत कर दिए थे।

"देखो, तुम चाहो तो मैं तुम्हें अपने घर के लुभावने सालन को सूंघाने का इंतजाम कर सकता हूं, किसी को कानोकान ख़बर नहीं होगी।"

अपनी हाफ़ पैंट की जेब में हाथ डालकर वह बड़ी अकड़ की मुद्रा में, अपनी सींकिया देह को टेढ़ी कर खड़ा हो गया, "पर एक शर्त है, तुम्हें अपने अख़रोट के पेड़ से चार-चार अख़रोट मेरे लिए लाने होंगे। ठीक दस बजे हमारा ख़ानसामा, 'भड्डू' (पतीला) में अपने गोश्त भूजकर चढ़ा जाता है। फिर पकने तक परिंदा भी इधर नहीं फटकता। तुम दाड़िम के पेड़ की डालें पकड़ किसी तरह दीवार की मुंडेर पर पहुंच भर जाओ। हमारे यहां चूना लगाने वाली सीढ़ीदार तिपाई है। मैं चट से लगाकर तुम्हें उतार लूंगा। पर शर्त याद रखना। चार अख़रोट में एक ही बार सूंघने को मिलेगा।" उस उदार प्रस्ताव ने हमारे नन्हे दिल को धड़का दिया, जो दिव्य सुगंध दूर से ही तैरती उतनी दुर्लभ लगती थी, उसे पास से सूंघने पर कैसा अनिर्वचनीय आनंद आएगा उसकी कल्पना मात्र ही हमें हवा में उड़ाने लगी थी।

ठीक दस बजे ही भदकते भड्डू से निकली मदमस्त ख़ुशबू ने हमारे साहस को ललकारा और हम आठ अख़रोट हाथों में छिपाकर, स्वयं

लुकते-छिपते चाचा की ढालू छत पर चढ़ गए, फिर कैसे वे दाड़िम की कमज़ोर डालें पकड़ी, फिसलनी छत की ऊपर की ढलान को कैसे पार किया, स्वयं नहीं जान पाए। वह अद्भुत सुगंध पल-पल निकट आती जा रही थी और हम दोनों भाई-बहन छत पर खड़े थे। हेनरी ने पहले पूछा, "अख़रोट लाए हो ना?"

"हां।"

और चट से सीढ़ी लगा उसने हमें उतार लिया।

एक अंगीठी पर भड्डू चढ़ा था और उसका ढकना ख़ुशबूदार भाप से उठता-गिरता हमारे कलेजों को भी उठा-गिरा रहा था।

"लाओ अख़रोट!" हेनरी ने किसी कठोर सेनापति की अकड़ से रौबीले स्वर में आदेश दिया।

मैंने भी पहले उसकी हथेली पर चार अख़रोट धरे।

"ले सूंघकर देख कुल एक बार, चार अख़रोट में इतना ही सूंघ पाओगी..."

उसने पतीले का ढकना उठाया और मैंने आंखें बंद कर, वह सर्वथा नवीन सुगंध दोनों नथुनों में भर कंठ में गटक ली।

वर्षों बाद, रियासती वैभव ने, हमें किसी भी आमिष स्वाद से वंचित नहीं रखा। जलमुर्ग़ी, सांभर, सुर्ख़ाब, टर्की, कच्छप, तीतर, बटेर और कभी ख़ासबाग़ से सील-मुहर लगा दस्तरख़्वान, जिसके प्रत्येक व्यंजन को नवाब रामपुर की राजसी जीभ का स्पर्श करने से पहले मेरे पिता की जीभ का स्पर्श करना होता था। तब वे ही फिर सील-मुहर लगाते थे, हमने भी कई बार उन अपूर्व खानों को चखा था। पर जो परमतृप्ति; उस दिन न चखने पर भी उस भड्डू की भभक करा गई थी, वह शायद कभी नहीं भूल पाऊंगी।

○

(पुनः चिरसाथी मोर से)

लोहनीजी की पहली स्मृति मुझे बेरावल की है। हम दोनों भाई-बहनों को वे नित्य प्रातः सोमनाथ के मंदिर में ले जाते। हमें खेलने छोड़ स्वयं वहीं पेड़ के तले लेट जाते और देर तक गाते रहते। उनकी एक ही प्रिय स्तुति थीः

बाघम्बर वाली कर दे दिलों के दुख दूर
कोई चढ़ावै ध्वजा-पताका
कोई चढ़ावै टूल
राजा चढ़ावै ध्वजा-पताका
रानी चढ़ावै टूल
बाघम्बर वाली...

उनका मांसल कंठ अत्यंत मधुर था। देवालय के भीम घंटे की गुरु गंभीर गर्जना के साथ उनकी वह स्तुति और भी मधुर लगती। कभी-कभी चरवाहे भी अपनी लाठी टेक उन्हें भक्ति-विह्वल हो गाते देखते रहते। "देखो," एक दिन मेरे भाई ने कहा, शिव मंदिर में देवी की स्तुति गा रहे हैं। असल में शिव स्तुति आती नहीं बुड़ज्यू को।"

उन्होंने सुन लिया, "अच्छा, हमें शिव की स्तुति नहीं आती क्यों?" तब सुनः

जटाकटाह संभ्रम भ्रमन्निलिंप निर्झरी
विलोल विचि वल्लरी विराजमान मूर्धनी
धगद्धगद्-धगज्ज्वल ललाटपट्ट पावके
किशोर चंद्र शेखरे रति प्रति क्षणं ममअ

उनका वह 'धगद्धगद्-धगज्ज्वल ललाटपट्ट पावके' का सुरम्य पाठ हमें ऐसा मुग्ध कर गया कि जब कभी ट्रेन यात्रा का सुयोग जुटता, हम

दोनों भाई-बहन रेलगाड़ी की झप्पताल के से ठेके से उसे मिलाते गाते जाते।

तब हमारे गृह की समृद्धि चरम शिखर पर थी—बीसियों नौकर थे। सोबन सिंह, शेर सिंह, बिशन सिंह, उम्मेद सिंह, ठुल गुसैं (बड़ा गुसाई), नान गुसैं (छोटा गुसाई)। इनमें से सबसे पुराने थे, गुसाई द्वय। बड़ा गुसाई शाही तबीयत का अनुचर था। लंबा क़द, बेहद लंबी नाक, कानों में सोने के नन्हे बटन पहनता था। इसी से लोहनीजी, जिन्होंने रामपुर नवाब रजाअली ख़ान को कान में हीरे पहने देखा था, उसे 'अन्यारकोट का नवाब' कहकर पुकारते थे। उसका ग्राम अल्मोड़ा के श्मशानघाट विश्वनाथ के पास था। लोहनीजी कहते, "चिताओं का धुआं इसकी नाक से होकर दिमाग़ में बस गया है। इसी से इसके मुर्दे दिमाग़ में बात ज़रा देर से घुसती है।" फिर हमने देखा, जो ठुल गुसाई, लोहनीजी का सबसे मुंहलगा अनुचर था, उससे वे सहसा हमारे माध्यम से आदेश देने लगे, "मसानिया से कह दे, दही जमा दे। इससे कह कपड़े उठा ले। भूरे बादल घिरे हैं, पानी बरसेगा।"

हमारी समझ में पहले नहीं आया कि क्यों नवाब सहसा डिमोट होकर 'मसानिया' बन गया है। फिर एक दिन समझ गए, "मसानिया, यह मत समझना कि हमारी दो ही आंखें हैं! पीठ में भी दो आंख हैं, हमारी, हम सब जानते हैं..."

"क्या जानते हो गुरु, क्या किया है मैंने?"

लंबे-चौड़े उद्धत भृत्य के गाल पर लोहनीजी की छाप उभर आई थी, 'बेशर्म पूछता है क्या किया... जानता है, किस घर का नौकर है तू? यह सब करना है तो किरिस्तानों की नौकरी कर। दो बच्चों का बाप है तू। देवकी का ब्याह कर चुका है, नागमल तेरा समधी है। सुन लेगा तब?"

ठुल गुसैं क्यों उस दिन सिर झुकाए निरुत्तर खड़ा रह गया, हमारी

समझ में बहुत बाद में आया। किसी नापित कन्या के साथ लोहनीजी ने उसे स्वयं देखा ही नहीं, यह भी सुना था कि वह उससे विवाह करने जा रहा है। यद्यपि अपना अपराध स्वीकार कर, बड़े गुसाईं ने उनके पैरों पर टोपी रख क्षमा-याचना भी कर ली थी, पर वे टस से मस नहीं हुए, "चोरी भी की होती तो मैं माफ़ कर देता, पर चरित्रहीनता को मैं माफ़ नहीं कर सकता।"

मेरी मां पिघल गई थीं, किंतु लौहपुरुष पुरुषोत्तम नहीं पिघले। वर्षों पूर्व जिसकी नियुक्ति उन्होंने की थी, उसी को समय से पूर्व अवकाश भी उन्हीं ने प्रदान किया।

हम कभी बीमार पड़ते तो वे ही हमारे एकमात्र कर्ण-दंत चिकित्सक बनते। कर्णशूल हो तो सुदर्शन के पत्तों को दोनों हथेलियों में मसल, कान में दो बूंदें टपकाते, दर्द हवा!

जीवन भर कभी आंखें न दुखने का उनका टोटका भी हमारे लिए अचूक रहा।

एक बार कहीं से एक सपेरे को पकड़ लाए। लाल-लाल आंखें। सिर पर उलझा रूखा जटा-जूट, कानों में बड़ी-बड़ी फ़ीरोज़ा गुथी बालियां। बुंदेल राजाओं की सी विभाजित मेहंदी रंगी दाढ़ी। कंधे के कांवर में लटकी, गैरिक कथरी में बंधी दो टोकरियां और टोकरियों में क्रुद्ध विवश फूत्कार छोड़ते विषधर। लोहनीजी ने हमें एक क़तार में बिठा दिया।

"लो महाराज!" सपेरे ने बीन बजाकर एक टोकरी का ढकना खोलकर कहा, "सीधे अमरकंटक से पकड़कर लाया हूं यह पद्मनाग! अभी ज़हर के दांत भी नहीं उखाड़े..."

उस भयावह विषधर को गुलदस्ते सा थाम, फिर उसने बारी-बारी से हमारी बंद आंखों पर छुआया तो रक्त भय से जमकर हिम हो

गया। न जाने कौन सा मंत्र पढ़कर बोला, "लो साहब, ज़िंदगी भर अब इन बच्चों की आंखें उठें तो हमारी आधी मूंछें मुंडवा दें!"

उसकी दुस्साहसी घोषणा हमें पूर्णतया आश्वस्त कर गई। अब इन मिचमिची कीचड़ सनी सूजी आंखों की संभावना भी हमें त्रस्त नहीं कर पाएगी। यदि कभी आंखें उठ आईं तो उसकी घनी लाल मूंछें मूंडने के मोहक प्रस्ताव का निर्वाह करने हम उसे भला कहां ढूंढ़ पाएंगे, यह दुर्भावना हमारे दिमाग़ में ही नहीं आई। किंतु उसका आश्वासन व्यर्थ नहीं गया। नागराज का वह मृत्युंजयी स्पर्श आज तक हमारी पलकों पर प्रहरी बना बैठा है। दंत चिकित्सक के रूप में लोहनीजी की विशेष ख्याति थी। हम भाई-बहनों की बचपन की पूरी दूधिया बत्तीसी, उन्हीं की कला को समर्पित हुई। दांत हिला नहीं कि एक पतला तागा बांध, लोहनीजी बड़े कौशल से खींचकर हमारी हथेली पर धर देते, "जा, अब हरी दूब के नीचे गाड़ आ।" ऐंटिबायटिक के रूप में हमें खाने को मिलता, शुद्ध घृत में तर, गर्म-गर्म सूजी का हलवा। मुझे स्मरण नहीं पड़ता कि कभी भी हमारे नए उगे स्थायी दांतों में से किसी दांत ने टेढ़े-मेढ़े होने की अंनुशासनहीनता दिखाई हो। अब, जब बचपन से ही लोहे के तारों में कसी-फंसी अधिकांश किशोरियों की बत्तीसी देखती हूं तो उन पर तरस आता है। जो उम्र नए-नए चटपटे स्वाद चखने की है, उसी की बत्तीसी बेड़ियों में कसकर रख दी। सुना था चीन में बचपन में ही नन्ही बालिकाओं के पैर उन्हें सुंदर बनाने के लिए बांध दिए जाते थे। लगता है, अब पूर्ण रूप से सभ्य बन गया मानव संसार भर की किशोरियों की बत्तीसी बांधकर ही रहेगा। अब शायद हमारा विश्वास अपने आदि सृष्टि-कौशल से उठ गया है। इसी से तो उसकी कला में मीन-मेख निकाल, आए दिन हम उसके नंबर काटने लगे हैं। उसके बनाए चेहरे को संवारने के लिए हमारे पास अब प्लास्टिक सर्जरी है। उसका दिया रंग-रूप निखारने

के लिए एक से एक रंग-रोगन हैं, अभी कुछ ही दिन पहले बंबई में, मेरे भतीजे के नन्हे बेटे के दांत में दर्द उपजा। दर्द से तड़पते उस तीन वर्ष के बच्चे को, तत्काल विशेषज्ञ के पास ले जाया गया। एक्स-रे हुआ। मंत्रणा हुई। पद-पद पर विशेषज्ञों की मुट्ठी गर्म हुई और निश्चय किया गया कि उस नन्हीं सी जान को, बेहोशी देकर, दंतकोटर भरा जाएगा। अब कोई उन नए लुकमानों से पूछे कि उस तीन साल के बच्चे को बेहोशी देना, वह भी एक निरीह कच्चे दांत के कोटर को भरने के लिए, कहां की बुद्धिमानी है? पर नहीं, अब तो जो विशेषज्ञ, जितना अधिक तामझाम सजाकर, हमसे जितनी बड़ी रक़म उघाएगा, हमारी दृष्टि में वही सबसे बड़ा चिकित्सक है।

हमने भी कभी अपने कच्चे दांतों में असह्य पीड़ा सही है। जहां दर्द उठा, लोहनीजी ने दूध टपकाती मदार की टहनी तोड़ी और वह दूध रूई से दांत में भर दिया। फिर कहते, ‘‘अब लार टपका। ख़बरदार, निगलना नहीं, न हाथ आंख में लगे।’’ फिर न जाने कौन सा कीलक पढ़, पीठ में एक घूंसा मारते कि पूरा मेरुदंड झनझना जाता। बस, दर्द हवा! इसे पहाड़ी में ‘भेद’ कहते हैं। तब अल्मोड़ा में ऐसे दो ही दुर्लभ दंत-भेदिए थे—एक हमारे पुरुषोत्तम लोहनी, दूसरे गोवर्धनजी! फिर, हमने एक-एक कर बचपन की वे बीमारियां भी झेलीं। खसरा—जब आंख-नाक से बहता पानी और तीव्र ज्वर लगभग प्राण ही ले लेता था। चेचक—जो देखते ही देखते सारे शरीर में मोती के से छलछलाते दाने बिखेर देती थी। तब, रात-रातभर हमारे सिरहाने बैठ, लोहनीजी मयूरपंख से हमारी पूरी देह को सहलाते। मंत्रोच्चार से झाड़तेः

रोगान् शेषान्नपहंसि तुष्टा
रुष्टातु कामान् सकलान्नभीष्टान्
त्वामाश्रिता न विपन्नराणां
त्वामाश्रितानह्याश्रयतांभवंति

लगता था दाने-दाने की तपन, मोरपंख ने पल भर में सोख ली है। रवींद्रनाथ की एक मार्मिक कविता है—जब गृह का एक पुराना भृत्य अपने साथी के साथ वृंदावन तीर्थ जाता है, वहां स्वामी को चेचक हो जाती है। वह उस परदेश में, दिन-रात स्वामी की सेवा में उसके सिरहाने खड़ा रहता है:

मुखे दैय जल, शुधाय कुशल
शिरे दैय मोर हाथ
दांडाए निझूम, चोखे नांही घूम
मुखे नेई तार भात

वह पानी पिलाता है। बार-बार पूछता है—अब कैसी तबीयत है? सिर सहलाता दिन-रात मेरे सिरहाने खड़ा रहता है। न उसकी आंखों में नींद है, न मुंह में भात। फिर एक दिन स्वामी रोगमुक्त हो जाता है, किंतु वही रोग सेवक को जकड़ लेता है। स्वामी की कालव्याधि को उसने जैसे स्वयं ग्रहण कर, स्वामी को रोगमुक्त कर दिया हो।

होये ज्ञानहीन, काटिल दू दिन
बंद होइल नाड़ी
ऐतो दिन तारे गैनू छाड़ि बारे
ऐतो दिन गैलो छाड़ी

ज्ञानहीन भृत्य ने दो दिन काटे। फिर नाड़ी बंद हो गई। जिसे कई बार जाने को कह चुका था, इतने दिनों बाद स्वयं चला गया। शोक संतप्त स्वामी गृह लौटता है:

बहुदिन परे आपनार घरे
फिरिनू. सारिया तीर्थ
आज साथे नांई
चिरसाथी मोर शेई पुरातन भृत्य

बहुत दिनों बाद तीर्थाटन कर घर लौटा हूं, पर आज मेरे साथ

मेरा वह चिरसाथी भृत्य नहीं है। हमारी कालव्याधि स्वयं ग्रहण कर वे चले गए, हम रह गए। उन्होंने हमारे साम्राज्य का उत्थान और पतन दोनों ही देख लिए थे। इसी से अब हमारा श्रीहीन गृह, उन्हें पद-पद पर डंक देने लगा। पहले पितामह को जाते देखा, फिर हमारी बहन को, पिता को, चाचा को, फिर भी वे साहस से जीर्ण वटवृक्ष की ज़िद से ही हमारे गृहप्रांगण में डटे रहे। किंतु, जब एक-एक कर उन सबको भी भरी जवानी में ही कंधा देना पड़ा, जिन्हें उन्होंने कंधों पर बिठा कर घुमाया था, तो वे टूट गए। एक-एक कर पुराने नौकर चले गए। धीरे-धीरे मोनोग्राम अंकित, चांदी की थालियां, कटोरियां बिकीं। वे भारी-भारी क़ालीन, कारचोबी की भारी शेरवानियां, कलंगियां, लहरदार साफ़े जो बिरादरी के शादी-ब्याहों में जितनी बार मांगी जातीं, उतनी बार लोहनीजी का पारा गर्म हो जाता, न जाने कहां विलीन हो गईं! चांदी का वह मस्जिदी गुंबद वाला पानदान, जिसकी चेनों में गुथी सुवासित मगही गिलौरियां मुंह में रखते ही, बताशा हो जाती थीं, वह चांदी की तश्तरी, जिसमें अंकित बीसियों हाथी, अपनी सजीली सूंड़ उठाए परिक्रमा सी करते मन मोह लेते थे, क्षीणकटि की गंगा-जमुनी काम की गुलाबजलियां, सब पुराने कपड़ों में लपेटे, लोहनीजी ही एक-एक कर बेच आए और जितनी बार हमारी गृह-समृद्धि का कोष रिक्त कर लौटते, उतनी ही बार हमारे पट्टांगन की दीवार पर ऐसे मुंह लटकाए घंटों बैठे रहते, जैसे मुर्दा फूंककर लौटे हों।

अब उनकी आंखों की ज्योति भी क्षीण हो गई थी। वह सीना जो हमेशा कबूतर सा तना रहता था, सिमट-सिकुड़कर बित्ते भर का रह गया था। उनके बंद गले का काला कोट, क्रिकेट खिलाड़ियों सा सफ़ेद, पीली-नीली पट्टीदार स्वेटर जो कभी मेरे पिता ने उनकी फ़रमाइश पर उन्हें विदेश से लाकर दिया था, क्रमशः क्षीण होती जा रही उनकी

काठी पर ऐसे झूलने लगे, जैसे खेतों में खड़े बांस के कागभगोड़े के तन पर झूल रहे हों। किंतु रस्सी जलकर ख़ाक भले ही हो गई हो, ऐंठ नहीं गई थी। उनकी जेब घड़ी, जिसने हमारे गृह की तीन-तीन पीढ़ियों के हर पल, हर क्षण को अनुशासन में साधकर रखा था, अभी भी उसी बांकपन से, एक सिरा उनके कोट के बटन से लटकाए, उनकी जेब में टिकटिक कर रही थी। किंतु उनके जीवन की घड़ी, धीमी पड़ने लगी। जो गृह नित्य ठसकेदार अतिथियों से गुलज़ार रहता था, अब वहां साधारण तबके के अतिथि वह भी भूले-भटके ही आते थे। लोहनीजी कहतेः

पंत देख पांडे देख
मरण बखत करड़ी देख

अर्थात पंत देखे, पांडे देखे, आज मरते वक़्त करड़ियों (करणी नाम का एक दरिद्र ग्राम) को देखना पड़ रहा है!

मां उनसे कई बार घर लौट जाने का आग्रह कर चुकी थी, किंतु उनकी अदम्य जिजीविषा ने उन्हें और भी ज़िद्दी बना दिया था।

"कैसे जाऊं? अभी तो त्रिभी की शादी देखनी है, उसके बच्चों को गोद में खिलाना है..."

उसी भाई के विवाह के लिए, लड़की देखने का काम उन्हें ही सौंपा गया था। उस दिन उनकी सफ़ेद मूंछों से बरसती हंसी, रोके नहीं रुक रही थी। ऐसे यत्न से उन्होंने अपने को संवारा, जैसे हमारे भाई के लिए नहीं, स्वयं अपने लिए कन्या देखने जा रहे हों। लौटे तो हमने घेर लिया—"कैसी लगी हमारी भाभी?"

"नौ रत्ती बावन तोले," वे बोले, और फिर सहसा हमारे धैर्य को चुनौती देने होंठ भींचकर बैठ गए। एक चुप, हज़ार चुप। "बताइए ना, ख़ूब गोरी है ना?"

"हमने चेहरा थोड़ी ही ना देखा—हम क्या जानें, गोरी हैं या काली!

हां, चाय उनकी मां ने ज़रूर पिलाई।''

''तब?'' वह भुनभुना उठे, ''क्या आप कन्या की मां को ही देखकर चले आए?''

''और क्या! कन्या की मां को देखकर पसंद की गई लड़की कभी खोटी नहीं निकलती—एकदम पक्का रंग निकलता है उस लड़की का।''

''क्या भाभी का चेहरा सचमुच नहीं देखा आपने?''

''नहीं, पैरों के, हाथों के नाख़ून देख लिए थे हमने, मां के पास घुटनों से सर झुकाए बैठी थी...''

हम अम्मा पर बरस पड़े, ''लो, और भेजो इन्हें! अब तक तो यही सुना था कि जानवरों की पहचान ही नाख़ून देखकर की जाती है।''

''तू चुपकर!'' अम्मा ने डपट दिया, ''लोहनीजी नारद बाबा के साथ रहे हैं, सिद्धि प्राप्त है उन्हें।''

बाबा की गांजे की चिलम साधते-साधते भले ही उस अमल से लोहनीजी अछूते नहीं रहे हों, कुछ शक्ति उनमें थी अवश्य! कभी-कभी एकांत में पतली चिलम के कड़वे धुएं की लंबी कश खींच वे कहते:

उस लड़के से लड़की भली
जिसने न पी गांजे की कली

देखते ही देखते आंखें गुड़हल सी लाल हो जातीं। उस दिन उनका मूड, उन्हीं की सुनाई कहानियों के चमत्कारी सिद्ध सा हो जाता—''मांग बच्चा, जो मांगना है मांग ले...''

हमारे गृह में दो ही चमत्कारी क़िस्सागो थे—एक हजारी मां, दूसरे लोहनीजी! हमारे यहां तब दो लाइब्रेरी थीं, एक पितामह की, दूसरी मां की। मां की लाइब्रेरी में घर भर के प्राण बसते थे, बंकिम ग्रंथावली से लेकर शरतचंद्र, मेघाणी, मुंशी, गुजराती, हिंदी पुस्तकों से अलमारियां ठसी रहतीं। घर का हर सदस्य पढ़ने के पीछे दीवाना था—'चांद,'

'विशाल भारत,' 'सुधा,' गुजराती की 'बेघड़ी मौज,' गिजुभाई बधेका की दर्शनीय नन्ही पुस्तकें नियमित रूप से आती।

उन दिनों एक और प्रचलन था। हर तीसरे-चौथे महीने पुस्तकों से भरा टीन का बक्सा, कुली के सिर पर लाद, एक मनमोहक फेरीवाला आता। कैसी-कैसी पुस्तकें और शायद ही कोई अठन्नी से महंगी! 'चहारदरवेश,' 'क़िस्सा हातिमताई,' 'आल्हा ऊदल,' 'उमरावजान अदा,' हमारा गृह फेरीवाले का पुराना ग्राहक था। इसी से कभी-कभी कमीशन के रूप में एक-आध पुस्तक हमें उपहार रूप में थमा जाता। ऐसे ही एक उपहार ने मेरे दाढ़ की जड़ें ही लगभग हिला दी थीं। हुआ यह कि उस दिन काफ़ी ख़रीदारी हुई और मैं, ठीक वैसे ही एक फ्री पुस्तक की मांग कर बैठी जैसे चूड़ी पहनने वाले से फ्री सुहाग की चूड़ी की मांग किया करती थी।

"ले लो, अठन्नी की कोई भी किताब छांट लो!" उसने कहा। मैंने इधर-उधर देखा और चट से वह लुभावनी पुस्तक उठा ली, जिसे कभी न पढ़ने की चेतावनी कई बार दी जा चुकी थी—'तोता-मैना।'

इधर मैंने पुस्तक उठाई और उधर लोहनीजी न जाने कब आकर पीठ पीछे खड़े हो गए। फिर जो करारा झापड़ पड़ा कि दांत झनझना गए, "मना किया था ना तुम्हें।"

मैंने जीवन में, सेंसर के ऐसे दो ही चांटे खाए हैं, एक सरस्वतीचंद्र पढ़ने पर अम्मा का। अपराध था दस वर्ष की उम्र में उपन्यास पढ़ना और दूसरा तोता-मैना पढ़ने पर लोहनीजी का।

फिर एक दिन उन्हें जाना ही पड़ा...

जिसका यौवन हमारे गृह में ही बीत गया था, उसका विवश वार्धक्य उन्हें उनकी प्राणप्रिया बामणी के पास खींच ले गया। वह सरला, पतिव्रता बामणी, जिन्हें सत्तर वर्ष की वयस हो जाने पर भी हमने कभी बिना घूंघट के नहीं देखा, मेरे भाई के विवाह के रतजगे

में उन्हीं लजीजी बामणी का नृत्य देख हम दंग रह गए थेः

हाथ जोड़ूं गोरा जी
मैं तो बीबी बामणी

उन दिनों के उद्धत मर्कटमुखी गोरे फ़ौजी से वह सरल निवेदन, वैसा ही कामार्त्त शत्रु से संघर्ष का ऐसा मौलिक अभिनय कि आज की बलात्कार अभिनय पटीयसी चलचित्र तारिकाएं भी पानी भरें।

लोहनीजी केवल भूत-प्रेतों की ही कहानियां सुनाया करते थे। उनके शब्दों में वे कहानियां उनके भोगे हुए यथार्थ की कहानियां थीं।

"साली-हरामजादी चुड़ैलों को हम जाने क्यों पसंद हैं! हमें देखते ही पीपल के पेड़ से टपटप टपकने लगती हैं, पर मजाल है जो आज तक हमें एक भी छू पाई हो!"

उनकी एक अत्यंत प्रिय कहानी थी 'जागो हो, मैं लै उणयूं' (रुक जाओ जी, मैं भी आ रहा हूं)। कैसे वे घर से छुट्टियों के बाद अपने गांव सतराली से, अंधेरे में उल्टी घड़ी देख, आधी रात ही को चल पड़े थे और पीछे-पीछे लग गया था मसान का ख़बीस। चलते-चलते घंटों बीत गए, पर रात नहीं बीती। अंधेरे घने जंगल से गुज़र रहे थे तब वह नक्की स्वर गूंजा, "जागो हो... मैं लै उणयूं।"

लोहनीजी समझ गए, वह कौन है। पर प्रेतबाधा का एक-एक कीलक अर्गला तो वे साथ लिए चलते थे, न हुंकारा दिया, न पीछे मुड़कर देखा, पर वह हरामी क्यों चूकता? मुस्टंडा, कभी बैल बनकर सींग घुमाता, कभी अग्निपुंज बनकर 'फ़्वां फ़्वां' करता! कभी नक्की स्वर में कहता। 'जागो हो!'

लोहनीजी स्वयं उसी नक्की स्वर में वह हांक दुहराते तो हम डर कर उनके पास सरक आते, "बस लोहनीजी बस! अब कल सुनेंगे!"

वे हंसकर हमें पास खींच लेते, "अरे पगली, जब तक वह पुरुषोत्तम है ना, इस घर में मजाल है जो कोई दुष्टात्मा क़दम तो धर ले!"

लेकिन उनके जाते ही, न जाने कितनी अशरीरी आत्माओं ने हमसे हृदयहीन प्रतिशोध ले लिए। रोग-शोक, दुख-परिताप, विछोह ये सब दुष्टात्माएं ही तो थीं! किंतु, जाने से पहले वे मुझे एक गुरुमंत्र अवश्य थमा गए। मैं विवाह के बाद, पहली बार मायके आई। मेरी उन्हें बड़ी चिंता थी। कहते थे, "तूने तो बस घुड़सवारी ही सीखी है... क्या करेगी ससुराल में?"

विवाह से पूर्व मैं सचमुच ही गृहकार्य में शून्य थी। शायद ही कभी पानी का गिलास भी स्वयं उठाकर पिया हो! विवाह हुआ ऐसे कट्टर सनातनी परिवार में, जिन्हें नौकरी की छाया से भी परहेज़ था। उस पर मेरा सबसे बड़ा अपराध था कि मैं उच्च शिक्षा प्राप्त अपने ससुराल की पहली पढ़ी-लिखी बहू थी। कभी छाता भी लगाकर कहीं चली जाती तो अंतःपुर से छूटे विषबुझे बाण मुझे बींध डालते। अपने प्रगतिशील मायके से वहां आने पर मुझे उस गहरे सांस्कृतिक आघात ने गहन नैराश्य में डुबो दिया था।

पहली बार मायके आई तो मां से सब कुछ छिपा ले गई, पर लोहनीजी ने एकांत में पूछा, "क्यों, कैसी बीत रही है?"

मैं उत्तर नहीं दे पाई। अब तक यत्न से छिपाई गई वेदना, शतसहस्त्र धाराओं में फूट पड़ी। तीसरे ही दिन मुझसे चक्की में उड़द की दाल दलवाई गई। बीसियों सीढ़ियों में लक्ष्मीजी के पैर बनवाए गए। परात भर आटा गुंधवाया, उस पर ग़ज़ब की छुआछूत। एकवस्त्रा बनकर खाना बनाओ। उस पर भी बड़े घर की बेटी होने का दिन-रात ताना सुनो!

मैं बुरी तरह सिसकने लगी थी। जानती थी, अब चाबुक पड़ेगाः

"कहता था ना घर का काम सीख, तब तो बड़ी माख लगती थी। भोगो।"

पर वे एक शब्द नहीं बोले। चुपचाप सुनते रहे। फिर मेरे सिर

पर उन्होंने बड़े स्नेह से हाथ फेरा, "रो मत। तुझे पति तो देवता मिला है ना? धीरे-धीरे ये छोटे-मोटे बादल ख़ुद छंट जाएंगे। पहाड़ी डोट्यालों को देखा है ना? (पहाड़ी कुली जो अपनी ईमानदारी एवं दुर्वह बोझा ढोने के लिए कभी प्रख्यात थे) उनसे सीख! जब उनकी पीठ पर तीन-तीन मन का बोझा लाद दिया जाता है, तो जानलेवा चढ़ाई, बिना चूं-चपड़ किए कैसे झेल लेते हैं, जानती है? उस बोझ पर स्वयं मन भर का पत्थर लाद लेते हैं। आधी चढ़ाई चढ़ फिर ख़ुद लादे गए उस पत्थर को दूर भनका देते हैं—पीठ का बोझा अचानक फूल सा हल्का लगने लगता है। और फिर देखते ही देखते रही-सही चढ़ाई वे पल भर में पार कर लेते हैं। वे कभी एक सीध में नहीं चलते, कभी दाएं और कभी बाएं यानी उबाऊ दिनचर्या में पल-पल ख़ुद बदलाव ले आते हैं, वही सीख समझी! बोझा कभी भारी बोझ नहीं लगेगा।" जीवन के दुर्वह बोझ पर स्वयं लादा गया भारी पत्थर तो अब कब का भनका कर दूर फेंक चुकी हूं। पीठ का बोझ स्वयं ही फूल सा हल्का लगने लगा है। जीवन की एकरसता की तीखी चढ़ाई में दाएं-बाएं चलने का प्रयास भी व्यर्थ नहीं गया। आधी से अधिक चढ़ाई तो पार कर ही ली है। लोहनीजी का दिया गया गुरुमंत्र रही-सही चढ़ाई भी पार करा ही देगा। किंतु, कभी-कभी अतीत पीछे खींचता अवश्य है:

बहुदिन परे आपनार घरे
फिरिनू सारिया तीर्थ
आज साथे नांई
चिरसाथी मोर
शेई पुरातन भृत्य

अलख माई

अल्मोड़े की अपनी यादें संजोती हूं तो दो चेहरे सहसा मेरी स्मृति को झकझोर उठते हैं—क्यों, क्या हमारी कहानी नहीं लिखोगी? इनसे मिलने से बहुत पहले तो तुम हमीं से मिली थीं जी! दोनों जैसे मेरे सम्मुख हंसती खड़ी हो जाती हैं, हाथ का सुदीर्घ चीमटा खनखनाती प्रौढ़ा वैष्णवी और बूटे से क़द की, नगजड़ी बुलाक के लोलक के साथ-साथ अपनी जीर्ण खंजरी हिलाती रजुला। ठीक ही तो कह रही थीं वे, चलते-चलते अतीत के अंतराल से पल भर को झांक गए उन चेहरों को न आंक लूंगी, तो स्वयं भी मुझे यही लगेगा कि पीछे कुछ छूट गया है। न उनके पैरों में बेड़ियां थीं, न चारों ओर घिरी कारागार की प्राचीरें। पैरों तले था, दुरूह पगडंडियों का बिखरा वैभव, और सिर के ऊपर था उदार नीलाकाश। जहां चाहे, आंकी-बांकी घूमती, सिर पर अपने पाप की गठरी साधे-साधे, घुसकर ओझल हो जाएं! न फिर उन्हें पुलिस का भय, न ग्राम के चतुर पटवारी का! यही किया था वैष्णवी ने। बद्री-केदार, हरिद्वार, लछमन झूला सब जगह हांक लगाती घूमती, 'अलख माई भिच्छा दे, आज से तीस वर्ष पूर्व की भिच्छा देने वाली माई अत्याधुनिका माई से कहीं अधिक उदार थी, कहीं अधिक धर्मभीरु! कुमाऊं के कौन से गृहस्थ की ऐसी देहरी थी, जहां से ली रुद्राक्ष की असंख्य मालाएं हिलाती कनफड़ा माई हाथ का खप्पर रिक्त ही लिए लौट सकती थी? प्रत्येक शनि और मंगल को दो नेपाली वैष्णवियां न जाने कितने वर्षों तक नित्य हमारे द्वार पर भी, ऐसी ही सुपरिचित हांक लगातीं, "अलख माई, भिच्छा दे!" और नित्य बड़े कांसे के कटोरे में भरी खिचड़ी-आटा पाकर, आशीर्वाद देती घर को जातीं। उन सरल आशीर्वादों की मौलिक मिठास भी तो अनोखी ही रहती। "राजरानी

बनो लली, पीठ पीछे भाई लाना, एक नहीं, दो नहीं, सात-सात भाई!"

परिवार नियोजन के इस युग में, वैष्णवी के इस आशीर्वाद की कोई भी महत्ता नहीं रह जाती, किंतु फिर भी द्वार पर खड़े किसी भिक्षुक पर फटकार पड़ते सुनती हूं, "क्यों जी भीख मांगते शर्म नहीं आती! हट्टे-कट्टे तो हो। नौकरी क्यों नहीं करते? जाओ, भाग जाओ, भीख-वीख कुछ नहीं मिलेगी यहां!" मेरे कानों में उस कांपते कंठ का वात्सल्य पगा मीठा स्वर गूंजने लगता है, "राजरानी बनो लली, पीछे-पीछे भाई लाना, एक नहीं, दो नहीं, सात-सात भाई!"

एक दिन, अचानक ही एक सर्वथा नवीन कंठस्वर के आह्वान से चौंककर मैंने सिर उठाया, तो देखा, एक ही वैष्णवी, हाथ में बहुत लंबा सा चीमटा और कंधे पर नन्ही-नन्ही हाथ की सिलाई से गुथी, गैरिक थैली लटकाए खड़ी है। एक पल को तो मैं उसके निर्विकार मर्दाने चेहरे को देखती ही रही थी। कठोर मुद्रा, और इससे भी कठोर कंठस्वर, "अलखनिरंजन! माई आज यहीं भोजन पाएगा"—उसके व्यक्तित्व के लिए पुंल्लिंग का प्रयोग ही उपयुक्त लगता था। एकदम सपाट चौड़ा सीना, बेहद लंबा क़द, चौकोर काठी, छोटे-छोटे केश, ऊपर से सीधी और नीचे आकर अचानक फैल गई नासिका के उदार नथुने जैसे हर पल सद्यः दागी हुई दुनाली बंदूक़ की ही भांति गर्म धुआं छोड़ते जा रहे थे।

"सुन लिया बेटी? जा, भीतर ख़बर कर दो, माई आज यहीं भोजन पाएगा, यही गुरु महाराज का इच्छा हुआ है आज!" सचमुच ही बैठकर, माई ने चीमटा गाड़ कंधे का गैरिक झोला उतार दिया।

उस आदेश को सुनकर मैं सकपका गई। खाना तो हम खा चुके थे, दादा जी के साथ हम तीनों भाई-बहन अकेले ही रहते। महाराज खाना खाकर चले गए थे, अब अचानक आ टपकी, इस रोबदार वैष्णवी के लिए खाना कौन बनाएगा?

"माई, तुम बैठो। खाना तो हम खा चुके हैं। मैं अपनी बहन से कहती हूं, तुम्हारी भिक्षा निकाल देंगी।" मैंने बड़ी नम्रता से कहा।

"नहीं!" माई ने रोष से अपना गड़ा चीमटा उखाड़कर, दो-तीन बार धरा पर पटका, माई भोजन पाएगा। "जा, छिलुका लकड़ी, कड़ाही, तेल, बेसन, दही, मिर्चा सब ले आ। माई कढ़ी-भात खाएगा, जा।"

मुझे उसकी प्रगल्भ धृष्टता पर क्रोध भी आ रहा था, पर न जाने उस चेहरे में कैसा रोब था कि मैं सहमकर, अपनी बड़ी बहन को बुला लाई। हमारे आने तक वह चीमटा गाड़कर, अपनी तूबे सी मोटी टांगें फैलाकर बड़े आराम से लेटी थी।

"आओ बेटी, ले आई?" हमें देखकर वह अख़रोट वृक्ष के तने की टेक लगाकर बैठ गई। पूरी रसद, बर्तन, लकड़ी आदि लेकर हमने उसके सामने रख दीं। थोड़ी देर में उस फुर्तीली वैष्णवी ने दो पत्थरों का चूल्हा बना, आग जलाकर कढ़ी चढ़ा दी और चावल बीनती-बीनती एकदम हमारी ओर मुड़ गई।

"अलख गुरु! कुछ पूछना है तो पूछ ले बेटी, माई बार-बार तेरे द्वार पर नहीं आएगा, आज तो गुरु ने भेज दिया, माई चला आया।"

पहले हमारी समझ में नहीं आया, पर फिर उसने थाली के चावलों से कुछ दाने चट से मुट्ठी में भर लिए और आंखें बंद कर, होंठों ही होंठों में कुछ बुदबुदाने लगी। एक अज्ञात भय से सिहरकर हम उसे देखती रह गईं, तब यह क्या कोई तांत्रिक त्रिकालदर्शी दैवज्ञमार्तण्ड गुरु की भैरवी थी?

"बोल, क्या पूछना है? शादी, ब्याह?" उसकी आरक्त आंखें, अब कपाल पर चढ़ी जा रही थीं।

"मैं तो शादी कभी करूंगी ही नहीं, पूछूं क्या माई?" मेरी बड़ी बहन ने हंसकर कहा। कई जगह के रिश्ते वे स्वेच्छा से लौटा चुकी थीं, और हमारे परिवार ने उनके कौमार्य-व्रत की घोषणा को एक प्रकार

से स्वीकार भी कर लिया था। पर माई ने उस दिन उनके दृढ़ निश्चय की धज्जियां उड़ा दीं। एक सशक्त फूत्कार के साथ, हाथ में बंद चावल के दाने उसने धरा पर बिखेर दिए। फिर कठोर स्वर में गरजी, "तू विवाह करेगा, दुनिया की कोई भी ताकत तेरे ब्याह को नहीं रोक पाएगी।" उसके कंठस्वर की दृढ़ता में कुछ ऐसी सम्मोहिनी शक्ति थी कि मुझे लगा, बैंड के साथ झम्मक-झम्म करती, बड़ी सी बरात सचमुच ही हमारे आंगन में उतर आई है! अपनी अद्‌भुत भविष्यवाणी से हमें प्रभावित कर अब उस वैष्णवी ने उबलती कढ़ी उतारकर, चावल की डेगची चढ़ा दी और हमसे बतियाने लगी। मैंने देखा, उसका शरीर, कंठस्वर, छोटे-छंटे केश सब कुछ ही मर्दाना था, यही नहीं मोटे होंठों के ऊपर सुस्पष्ट मूंछों की एक रेखा भी थी। एक पल को एक शंका ने शायद हम दोनों बहनों को ही सहमा दिया, कहीं वैष्णवी का वेश धर, हम अकेली बहनों को ठगने आया यह कोई धूर्त वंचक तो नहीं था? सकपकाकर, हम दोनों के शंकित दृष्टि के आदान-प्रदान को शायद उस चतुरा माई ने भी भांप लिया, "क्यों बेटी, माई का चेहरा ऐसे क्यों देख रही हो? डर गई क्या?" लपककर उसने मेरा हाथ पकड़ा और हंसने लगी। मैं उस विचित्र स्पर्श की, चेष्टा करने पर भी आज स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पा रही हूं, पर ऐसा लगा था जैसे कोई लिजलिजी छिपकली ही मेरे हाथ में आ गई हो।

"माई का चेहरा ही ऐसा है बेटी," एक लंबी सांस खींचकर उसने अपनी अस्वाभाविक मूंछों की रेखा को संवारा, "नाम था लछमी, और ब्याह होकर आई तो सास ने घूंघट उठाते ही कहा, 'अरे यह तो लछमी नहीं लछमसिंह को ब्याह लाया है रे तू आनसिंह,' उसी दिन से हरामी हमारा दुश्मन बन गया।" वैष्णवी का मांसल कंठस्वर अजीब बैठा-बैठा सा लग रहा था, जैसे अभी-अभी नज़ले से उठी हो। कंठ में झूल रही चित्र-विचित्र मालाओं पर हमारी दृष्टि निबद्ध देख, वह हंस-हंसकर एक-एक माला से हमारा परिचय कराने लगी, "यह बड़े गुरु महाराज

की दीच्छा माला, यह मंझले गुरु का दिया छोटा जप का माला, यह मसान के जप का रुद्राक्ष और यह पिरागराज के कुंभ का तुलसीमाला।"

मेरी बहन भीतर गई और मुझे भी हाथ से उठ आने को कहने लगी, पर मुझे तो वैष्णवी की रसीली बातों में महा आनंद आ रहा था, मैं भला क्यों उठती? खाती है तो वैष्णवी खाती रहे, मैं क्या उसके खाने में नज़र लगा रही थी? जान-बूझकर ही मैंने अग्रजा के कृत-संकेत की अवहेलना कर दी। वैष्णवी ने आंखें बंद कर ज़मीन पर गुरु के नाम की तीन-चार कढ़ी-भात की बड़ियां सी डालीं, और हंसकर मुझसे बोली, "क्यों खाएगी बेटी?"

सच कहूं, तो उसकी चटपटी मिर्च रंगी कढ़ी देखकर मन ललचा भी उठा था। पर छिः, स्वयं भिक्षा में दिया गया अन्न क्या ग्रहण कर सकती थी मैं!

खाना खाकर वैष्णवी ने देखते ही देखते बर्तन मलकर दर्पण से चमका दिए और चीमटे से अंगारे बीनकर चिलम सजा ली—पहले थैली से एक रंगीन काठ की डिबिया निकाली, फिर उसकी दो चुटकियां दोनों नथुनों में भरीं और अचानक धुआं उगलती दुनाली का रहस्य स्वयं स्पष्ट हो गया। अब वह पालथी मारकर बैठी और आंखें बंद कर उसे एक लंबी कश ली। चिलम का मादक धुआं उसे अब और मुखरा बना गया था।

"वाह! माई आज तुमसे बहुत खुश है बेटी।" मैं चिलम थामे उस दम लगाती रहस्यमयी वैष्णवी को मुग्ध दृष्टि से देख रही थी। कैसी चौड़ी हथेली थी, किसी को एक तमाचा धर दे, तो वहीं ढेर! वैष्णवी थी या पहलवान?

"तुम क्या दिन-रात चलती ही रहती हो माई?" मैंने पूछा।

गांजे से आरक्त नयनों में सहसा स्निग्ध वात्सल्य छलक आया।

"हां बेटी, माई ने बड़ा पाप किया है, इसी से परभू ने सजा दिया

है माई को, 'माई! जाओ, दिन-रात चलता रहो, न रात नींद न दिन, जहां गुरु ने कहा वहीं चीमटा गाड़ दिया और गुरु ने कहा, 'अलख माई फेर चल दे'—उखाड़ा चीमटा और चल दिया। 'बरफ, पानी, नौला, गाढ़ (नदी) तर जा माई। पाप किया है पिरस्चित कर 'वही करता हूं गुरु,—वही करता हूं..."

उसने चिलम सहित अपनी चौकोर हथेलियां कपाल से टेककर अपने अदर्शी गुरु को नमस्कार किया और फिर एक कश लेकर, हिलने सी लगी...

"गुरु? कहां हैं तुम्हारे गुरु?" मैंने पूछा। कैसे गुरु होंगे भला जो अदृश्य बने अपनी शिष्या को उठने-बैठने का भी जादुई आदेश देकर फिर उड़न छू हो जाते थे।

"हा-हा-हा-हा!" वैष्णवी ने मुझे देखकर विचित्र अट्टहास किया, "पगला छोरी, गुरु क्या तुझे दिख सकता है? वह तो कान में आकर कह जाता है बस, ठीक जैसे हवा चलता—हर वक्त माई का साथ। रात-आधी रात, घाट, मसान कहीं माई डरा, बस गुरु ने सिर पर हाथ धरा—माई डर मत, हम तेरा साथ हूं।" मसान घाट पर घूमने वाली माई तब क्या वैष्णवी नहीं थी? निश्चय ही वह किसी मसानी उदासी की चेला थी। मेरे रोंगटे खड़े हो गए, कुछ ही माह पूर्व ऐसे एक भैरवी ने अचानक आकर हमारे ही एक आत्मीय के यहां अपना चीमटा गाड़ दिया था। गृहस्वामी के सरल सौजन्य का लाभ उठाती वह उन्हीं के यहां जमी रही। मांस-मदिरा से वह अपने आराध्य का नित्य भोग लगाती, और देखते ही देखते उसने उस परिवार को मिट्टी में मिला दिया। पहले, गृह के नन्हे पुत्र की मृत्यु हुई, फिर गृहस्वामी की, और अंत में स्वयं गृहस्वामिनी को पागल बनाकर वह एक दिन जैसे अचानक महामारी सी आई थी, वैसे ही न जाने कहां अदृश्य हो गई। कहीं यह भी उसी अखाड़े की तो नहीं थी?

माई आंखें बंद किए, सहसा फिर झूम-झूमकर अलस स्वर में बोलने लगी, "दस साल में जोगी माई का शादी हुआ, चार साल बाद माई ससुराल गया, मालिक का नाम था आनसिंह। टनकपुर, हलद्वानी, अल्मोड़ा सब जगह मोटर चलाता। आधा पिटरौल अपनी मोटर में डालता, आधा अपने पेट में। जब घर आता नशा में चूर, जोगी माई को कभी सास मारता, कभी मरद। कभी कहता, 'लकड़ी ला।' कभी कहता, 'घास काट ला।' कभी भूखा-प्यासा माई को भैंस चराने भेज देता जंगल। और भैंस भी था ऐसा हरामी कि जोगी माई को भगा-भगाकर मार देता। माई पूछता, 'सासूज्यू हो, मायके जाऊं?' तो गरम चिमटे से दाग देता, देख अभी भी 'डाम' (जले का चिह्न) पड़ा है सब। चिलम पेड़ से टिका, माई ने अपनी भगवा फतुई-कुर्ती ऊपर उठा दी और उसके नारीत्व के शुष्कतूबी से लटके प्रमाणपत्र देखकर, मैंने सकपकाकर आंखें नीची कर ली थीं। सचमुच ही वह नारी थी। पेट से लेकर पसलियों तक, क्रूर सास के गर्म चीमटे के अमिट चिह्न, गोदने की अमिट स्याही से ही उभर आए थे।

"एक दिन माई को बुखार में ही सास ने भैंस चराने भेज दिया। माई बहुत रोया, 'हम नहीं जाएगा सासू, उस बन में बाघ लगा है, हमको बुखार है।' पर सास ने कहा, जा, जा, बाघ ने तुझे खा लिया तो हम दूसरा बहू ले आएगा।"

"उस दिन भैंस को भी सास ने मंतर दिया था। भगाते-भगाते जोगी माई का दम निकाल दिया, आख़िर जाकर खड़ा हो गया हरामी 'म्योल' (घाटी) के ऊपर नीचे काली गंगा, एक धक्का लगा तो चूर-चूर! माई को बहुत गुस्सा था उस दिन, भूख का गुस्सा, सास का गुस्सा, मरद का गुस्सा, सब निकाला उसने भैंस पर। रोज-रोज माई को सताता है 'चंडाल, ले जा!' बस, एक धक्का दिया और धड़ाम से भैंस गिरा। ऐसे वह गया जैसे कुस (कुश)...

"माई रोता-रोता घर आया, सास ने पूछा, 'क्यों रोता है, भैंस कहां है...? बोल छोकरी कहां है भैंस?'"

"जंगल में ही है सासूज्यू, आप चलो तो दिखा दूं।"

"आगे-आगे जोगी माई, पीछे गाली देता सास—वही चोटी पर हम दोनों पहुंचा। माई का सास था एकदम दुबला-पतला और माई था तगड़ा जवान..."

"बोल, कहां है मेरी ढाई सौ की भैंस—कहां?" उसने चिल्लाकर कहा।

"यहां, बोला माई और धकेल दिया हरामी को! ऐसा बह गया जैसा कुस..." अब एक पल को माई चुप हो गई, उसका पाप क्या इतना ही था?

"लौटकर माई आया तो दरवाजे पर आनसिंह खड़ा था, नशे में चूर लाल-लाल आंखें, और हाथ में कुल्हाड़ी..."

"बोल रांड, तू अकेली कैसी आई, मेरी मां कहां है? जानती नहीं उस बन में बाघ लगा है, फिर क्यों ले गई मेरी मां को?" जोगी माई को बहुत गुस्सा आ गया, बहुत! बाघ हरामी की मां के लिए लगा था, माई के लिए नहीं?

"तुम्हारी मां नीचे गिर गई है," माई ने रोकर कहा, "जल्दी चलो हमारा साथ, अभी बाज के पेड़ में अटका है तुम्हारी मां..."

"आनसिंह भागता-भागता माई के पीछे फिर उसी पहाड़ पर पहुंचा। माई को एक थप्पड़ मारकर बोला, 'बोल हरामजादी, कहां है मेरी मां?'"

"यहां," कहकर माई ने उसे भी धक्का दे दिया।

"वही तीखा पहाड़ और नीचे काली गंगा। माई फिर घर नहीं लौटा, ओडयार में, नैपाली बाबा के पैर पकड़कर सब पाप कबूल दिया माई ने। गुरु महाराज ने दीच्छा दिया और कहा, 'माई जा, दिन-रात चिमटा बजाकर भिच्छा मांगकर खा, और भिच्छा मांगकर पहन-ओढ़! तूने

जीव-हत्या किया है, यही तेरा पिराचित है, अब परभू तेरा मालिक और परभू सहारा है।'"

चिलम उलटकर वैष्णवी ने थैली में डाल दी, चीमटा उखाड़ा और हंसकर खड़ी हो गई, "परभू तुम्हारा भला करे, माई अब चलेगा..."

इससे पहले कि मैं बहन को बुलाकर लाती, वह लंबे-लंबे डग भरती सीढ़ियां उतर गई।

वही मुखरा मर्दानी वैष्णवी, मेरी कहानी 'लाटी' की वैष्णवी है, यही 'धुआं' की और इसी की लाठी के चौखटे में मैंने अपने उपन्यास 'चौदह फेरे' की वैष्णवी को बांधा है। कैसा जघन्य अपराध था उसका! एक साथ तीन-तीन हत्याएं—भैंस की, सास की और पति की। प्रतिशोध की कैसी विकट भावना रही होगी उसकी! संसार की किसी अदालत में, यह ट्रिपल मर्डर केस नहीं चला, किसी न्यायाधीश ने उसे बंदिनी बनाकर कारागार के कपाटों में नहीं मूंदा, किंतु बेड़ियां डाल दीं स्वयं उसकी अंतरात्मा ने। भरी जवानी में, सिर पर भगवा कफ़नी बांधे, वह एक बार फिर उसी तीखी पहाड़ी पर खड़ी हो गई। चौथी निर्मम हत्या की उसने, स्वयं अपने सत्रह वर्ष के यौवन की। ख़ूनी के सधे हाथों ने इस बार उसी हृदयहीन क्रूरता से, अपने यौवन को नीचे धकेल दिया। तीखा पहाड़ और नीचे बहती काली गंगा की तीव्र धारा।

इस बार उसका यौवन ऐसे बह गया जैसे कुश! इससे कठोर दंड उसे और मिल भी क्या सकता था?

एक ऐसी ही अदृश्य बेड़ियों से जकड़ी दूसरी बंदिनी से भी मेरा परिचय उसी अख़रोट के वृक्ष के नीचे हुआ था। खंजड़ी बजाती चैत की 'भेटुली' के पर्व पर मीठे करुण पहाड़ी ऋतुरैण गाती वह एक दिन सहसा आ गई थी, और फिर कई दिनों तक आती रही थी। उन दिनों पहाड़ में पेशेवर गायिकाओं का एक दल, चैत्र मास आरंभ होते ही, समृद्ध गृहों में, तुरैंण गाने जाया करता था, उनकी चाल-ढाल

में, अदब-क़ायदे में, वेश-विन्यास में, कहीं भी उनके कलुषित पेशे की छाप नहीं रहती। अधिकतर गायिकाएं चौड़े काले मख़मली किनारे की इकलाई पहने सीधा पल्ला सिर पर, संवारे, पान-दोख्ते से सनी मीठी हंसी से पूरा मोहल्ला गुलज़ार कर देती, उन दिनों पहाड़ में एक और भी कुप्रथा थी। समृद्ध गृहों के बुज़ुर्ग, वाणप्रस्थावस्था में, अपने यौवनकाल की इसी बदनाम बस्ती की 'मिस्ट्रेस' को घर लाकर निस्संकोच गृहिणी के आसन पर बिठा देते थे। उनमें से अधिकांश सिंथेटिक गृहिणियों का नाम 'राम' के पावन अक्षर से ही आरंभ होता था जैसे, 'रामकटोरी' 'रामप्रिया' 'रामप्यारी' आदि। जिस मोहल्ले में एकाध ऐसी रामनाम-धारिणी वास करती, वहां इस चैती गायिका दल की बैठक विशेष रूप से जमती। दुर्भाग्य से हमारे मोहल्ले में, कोई भी ऐसी भाग्यवती नहीं थी, किंतु हमारे ही एक रसिक आत्मीय के यहां इस दल का एक विशेष जलसा होता। खिड़की से उचक-उचककर, हमने उस दल की एक से एक सुंदरी उर्वशियों की रूपसुधा का छककर पान किया था। एक दिन अनजाने ही मैं उन्हीं नाना जी के पास अख़बार मांगने चली गई थी। उस दिन जो दृश्य वहां देखा, वह मैंने न कभी पहले देखा था, न शायद कभी देख ही पाऊंगी। हाथ में सिगार लिए ही मेरे रिश्ते के नाना मसनद पर लेटे थे; उनके सिरहाने-पायताने, अग़ल-बग़ल एक से एक सुंदरी अप्सराएं खिलखिला रही थीं। जैसा रंग वैसी ही ख़ुशबू; लगता था किसी ने दस-बारह इत्रदान एक साथ तोड़कर कमरे में बिखेर दिए हैं। उस इंद्रसभा में अचानक सयानी पौत्री को देखकर नाना जी सकपका गए और स्वयं मुझे भी पसीना छूटने लगा। किंतु व्यवहारकुशल नाना जी ने फ़ौरन परिस्थिति संभाल ली, "कहो नातनी, कैसे आई?" उन्होंने हंसकर पूछा। मैंने कहा, पर जीभ जैसे तालू से सट गई थी।

"आज का स्टेट्समैन, लेने आई थी।"

"ओह लला, तुम्हारी नातनी हैं ये? अब तो हम इन्हें बिठाकर चैत का शगुन जरूर करेंगी..." देखते ही देखते पूरी गुनगुनाती मधुमक्खियों ने मुझे अपनी रानी की भांति घेर लिया और गाने लगीं:

जो भागी जियलो
यो दिन भेटौलो हो!

कहीं मीठी खिलखिलाहट, कहीं कोमल हथेलियों से मेरा चिबुक-स्पर्श, कहीं अपनी मातृत्ववंचिता चिरशुष्क गोदी में मुझे खींचने का असफल प्रयास। मेरी रोनी सूरत पर तरस खाकर, नाना जी ने उन्हें डपटकर मुझे छुड़ा दिया था, "क्या कर रही हो तुम लोग, बेचारी लड़की घबरा रही है। ले बेटी, अख़बार मेज़ पर धरा है, उठा ले।" मैं एक प्रकार से जान बचाकर भाग आई थी। नाना जी, गायिकाओं के सौभाग्य से विधुर भी थे और निस्संतान भी, पर वे उनके यहां कभी चैत का शगुन नहीं गा पाती थीं। जिस घर में बेटी न हो, वहां भला, ऋतुरैंण कौन मूर्खा गा सकती थीं? मुझे देखकर और नाना जी की पौत्री के रूप में मेरा परिचय पाकर, हृदय के उच्छ्वास को उस दिन संभवतया वे रोक नहीं पाई थीं। बहुत दिनों बाद, मोपांसा की कहानी मैडम टैलड्र्स इस्टेब्लिशमेंट पढ़ी तो मुझे एक पल को नाना जी का वही कक्ष याद हो आया था। मैडम की नन्ही भतीजी के बपतिस्मा के समारोह में आया मैडम का रंगीन दल, क्या एकदम नाना जी की बैठक में जुटा दल नहीं था? भाग तो मैं आई थी किंतु देस में बंधी ऋतुरैंण की वह धुन, मुझे भुलाए नहीं भूलती थी:

जो भागी जियलो
यो दिन भेटौलो हो।

प्रत्येक भाग्यवती कन्या के जीवन में, यह दिन बार-बार आए!

इसी पंक्ति को दुहराती रजुला जब खंजड़ी खनखनाती मेरे सम्मुख खड़ी हो गई, तो मैं चौंक उठी थी। सांवला चेहरा, निमग्न आंखें, वेदना-

विधुर चेहरे पर करुण हंसी और उसके कलुषित पेशे का स्मृति चिह्न बनती जा रही सहसा नीचे धंस गई नाक। शायद उसी बैठी नाक ने कंठ में कंठस्वर में शनाई की सी नक्की मिठास घोल दी थी।

"क्या सुनोगी लली, ऋतुरैंण, परी चांचरी या रमौला...?" उसने हंसकर पूछा।

फिर तो वह कई दिनों तक आती रही और अपने कोकिल कंठ में संचित लोकगीतों का स्वर्णकोष हमारे सम्मुख औदार्य से जुटा-लुटाकर, हमें रिझाती रही। मैंने कितने गाने उससे सीखे, कितने झोली भर-भरकर शांतिनिकेतन ले गई, कितनों से आश्रम की कनिकादेवी, ज्योतिषदेव बर्मन, सुचित्र मित्रा जैसे प्रसिद्ध गायक-गायिकाओं के सुकंठ को सींचा, उनका अंत नहीं है। तिलककामोद, दुर्गा, देस इन तीन राग-रागिनियों में ही तो कुमाऊं के लोकगीतों के प्राण बसे हैं। क्या अनोखी मुरकियां अपढ़, अज्ञात, अनाम, लोक-कवियों की सरल कल्पना की, कैसी-कैसी उड़ान और सर्वोपरि, स्वयं उस कोकिलकंठी गायिका की अपूर्व स्वर-लहरी! लगता था इस नारी की सृष्टि ही विधाता ने गाने के लिए की है। अब कभी·कुमार गंधर्व की स्वर-लहरी से कुशल लुकाछिपी सुनती हूं। तो लगता है, यह बाज़ीगरी आज से तीस वर्ष पूर्व, वह अनपढ़, वास्तविक संगीत-शिक्षा से अनभिज्ञ रजुला कहां से सीख गई होगी! गाती-गाती वह मीठी स्वर-लहरी की चरमबिंदु पाते ही, अचानक तार-सप्तक को छू रही मीठी आवाज़ को, शून्य में विलीन कर फिर धीरे-धीरे उठाकर श्रोताओं को रस की चाशनी में पागकर रख देती। न कोई साज़ न कोई ठेका, केवल एक टूटी सी खंजड़ी, जिसकी मुई खाल को वह दियासलाई जलाकर, तपाभर देती और कान के पास बजाती, आंखें मूंदकर स्वर साधतीः

नैनीताला नंदादेवी
सोरे की भगवती

आज से तीस वर्ष पूर्व, जब उससे पहली बारः

बेड़ पाको बारोमासा
आसा काफल पाको चैत्ता
मेरी छैला

सुना था तो मुझे लगा था, सिर के ऊपर, छतरी सा तना अख़रोट-तरु भी, जैसे लाल-लाल रसीले फलों से लद गया है।

"रजुला, ऐसा गाना तुमने किससे सीखा?" हम पूछतीं।

"उससे," वह दोनों हाथ जोड़कर आकाश की ओर उठा आंख मूंद लेती।

"ठीक ही कहा था उसने, ऐसा कंठ, स्वर की ऐसी बाज़ीगरी, उसे वही कुशल शिल्पी प्रदान कर सकता था। वैसे वह 'ऋतुरैंण', 'भगनौला', 'रमौला' सब कुछ गाती थी। किंतु आत्महारा होकर गाती थी—देवता के गीत। एक गीत, उसे विशेष रूप से प्रिय थाः

मेरो कह्यो नीकह्यो
करिया नीकरिया
मेरी सुंणिया नीसुंणिया
करियै छिमा
छिमा मेरा परभू!

"मेरा कहा-अनकहा, मेरा किया-न-किया, मेरा सुना-अनसुना, सब क्षमा करो, क्षमा करो मेरे प्रभु!"

गाती-गाती वह सुध-बुध ही जैसे खो बैठती, आंखों से आंसू की धारा बहने लगती, खंजड़ी पर थिरकती उंगलियां शिथिल पड़ जातीं, और कभी कंठस्वर को उठाती, कभी डुबाती। वह सुनने वालों को भी उठाती, डुबाती, रुलाती जाती।

"ऐसा गला पाकर भी तुम भीख ही मांगती रहीं रज़ुला?" मैंने एक दिन उससे पूछा तो वह उदास हो गई। इधर कई दिनों की संगीत

शिक्षा ने हम दोनों के बीच गुरु-शिष्य का स्नेह संबंध स्थापित कर दिया था।

"नहीं लली, तुम्हारी किरपा से, रजुला ने इस गले से बहुत माया जोड़ी, चाहती तो ऐसी दस-बीस कोठी खड़ी कर सकती थी।" उसने अपनी प्रलंब भुजा, हमारे घर की ओर बढ़ा फिर सहसा सकुचाकर समेट ली। पल भर को धुंधली आंखों में दप से जली गर्व की ज्योति उसी वेग से बुझ गई। तब मैं अपना कौतूहल रोक नहीं पाई, "कहां गई वह माया?"

"नदी में," उसने आवेगहीन कंठ से कहा और शिथिल खंजड़ी, टूटी खनक के साथ, उसी की गोदी में गिर गई।

मैंने उसके दोनों हाथ पकड़कर कहा, "कहो न रजुला, नदी में कैसे चले गए तुम्हारे रुपए?"

"लली," उसने उदास हंसी हंसकर कहा, "सुनकर क्या करोगी? तुम लोग हो ऊंचे बामणों की लली, हम जैसे पापियों को छू भी लिया तो हम तर गईं। हमारा गंगाजल हो तुम लली, तुम्हारा हाथ छूकर झूठ नहीं बोल सकतीं हम! सच कह रही हूं। लली, इन्हीं हाथों से पूरा चालीस तोला सोना बहा दिया रजुला ने..."

"चालीस तोला?" मेरी आंखें फटी रह गईं।

"हां लली!" कंठस्वर में किसी प्रकार की उत्तेजना का स्पर्श भी नहीं था।

"यही नहीं, विट्टोरी (विक्टोरिया) के चार हज़ार नक़द रुपए काठ की ठेकी में ऐसे छलाछल छलक रहे थे, जैसे कुंडे का दानेदार दही, सब पाप, बहा दिया भागीरथी में..."

"क्यों, ऐसा क्यों किया? और अब गाना गाकर, दर-दर भीख मांगती हो?" मैंने पूछा।

"पाप किया था लली, घोर पाप, किसी ने सजा नहीं दी, भगवान ने भी आंखें बंद कर ली थीं- किसी ने नहीं पकड़ा मुझे।"

"कैसा पाप किया था तुमने रजुला?" मेरे प्रश्न के साथ ही, उसका पीला चेहरा और भी पीला पड़ गया।

"हत्या की थी मैंने..."

"किसकी हत्या?" मैंने सांस रोककर पूछा।

"अपने बेटे की," उसकी आंखें एकदम सूखी थीं—लगता था उसके आंसुओं का आदिस्रोत ही बहुत पहले सूख गया है।

"ऐसा क्यों किया?" मैंने सहमे स्वर में पूछा।

"क्योंकि उसकी शक्ल एकदम अपने बाप से मिलती थी, पैदा होते ही जिसकी शक्ल मैंने पहचान ली, बड़ा होता तो क्या लोग उसे नहीं पहचान लेते—सब जान जाते कि वह किसका बेटा है!" वह एक लंबी सांस खींचकर, फिर संयत स्वर में कहने लगी, "नदी में ले गई, अपनी आंखें बंद कर मैंने दुश्मन को डुबो दिया लली..."

कैसी विचित्र थी यह मां! पिता से पुत्र की शक्ल मिलती थी इसी से उसके प्राण ले लिए। पिता की सी सूरत तो किसी भी पुत्र के लिए गौरव की बात है, लज्जा की नहीं।

"तुम नहीं समझोगी लली," उसने हंसकर मेरी पीठ थपथपाई थी, "पूरा गांव, उसके बाप को देवता मानकर पूजता था और फिर उसका बाप क्या मेरा पति था? मैं तो थी नाचने-गानेवाली नरैंण की (प्रभु की) दासी, घोर पापिन, कलमुंही रजुला, क्या अपनी कालिख उनके मुंह पर पोंछ सकती थी? गांव छोड़कर भाग गई, और पाप की पूरी कमाई, चलते-चलते उसी भागीरथी में डुबो गई। कहां-कहां घूमी, कितने दुख सहे, हे भगवान! सुआमी गंगनाथ, सबूक भल करिया परभू!" (हे भगवान, स्वामी गंगनाथ सबका भला करना प्रभु!) रजुला ने दोनों हाथ कपाल से टेककर, न जाने किन-किन कुटिल कामियों के लिए, अपने अदर्शी प्रभु से क्षमा याचना की। फिर कहने लगी, "भगवान ने दंड दिया, गला बैठ गया, सारे बदन में फुंसियां निकल आईं। जो देखता, घिन्न से दूर सरक जाता। कभी कोई कोढ़िन समझकर धेला-पैसा फेंक

देता, और गुड़ खा, पानी पीकर किसी पेड़ के नीचे पड़ी रहती। कभी सपना देखती, छातियों से दूध बहा जा रहा है, कपड़े भीग गए हैं, चौंककर चीखती पर आवाज न निकलती। एक दिन मैंने उसी बैठी आवाज में अपना वही गीत गाया—'करियै छिमा, छिमा मेरा परभू।' धीरे-धीरे गला खुल गया, खोई आवाज फिर लौट आई। अब इधर-उधर भीख मांगकर पेट भर लेती हूं—यही मेरी जेल है लली। जिस दिन बेड़ी कटेगी उस दिन चार कंधों पर यही गाना गाती चली जाऊंगी!

मेरी कह्या नाकह्या
करिया नीकरिया
मेरी सुंणिया नीसुंणिया
करियै छिमा
छिमा मेरा परभू...!"

निश्चय ही, अब तक वह अपना वही प्रिय गीत गुनगुनाती महाप्रस्थान के पथ पर चली गई होगी, पर मेरे कानों में तो अभी भी, कभी-कभी उसकी खंजड़ी खनखना उठती है। कैशोर्य में मिली मेरी यही संगीत-शिक्षिका मेरी कहानी करियै छिमा की नायिका बनी। मैं तो उसे यही सामान्य गुरुदक्षिणा दे सकी, किंतु वह मुझे जो कुछ दे गई, उस अनोखे ऋण से क्या मैं कभी उऋण हो सकती हूं?

इसमें कोई संदेह नहीं कि विश्व के उच्चतम न्यायालय से बहुत-बहुत ऊंचा जो एक और न्यायालय है वहां न झूठी गवाही चलती है, न झूठी दलील! उस अनुपम न्याय-तुला का न एक पलड़ा रत्ती भर इधर नत हो सकता है, न उधर। और उन अदृश्य हथकड़ी-बेड़ियों की जकड़ इहलोक की बेड़ियों की जकड़ से कहीं अधिक कठोर होती है, कहीं अधिक दुर्धर्ष!

2

आमा

दिद्दी की बचपन की यादें दिलचस्प तो अवश्य हैं, लेकिन उनको पढ़ते हुए मुझे एक अजीब सी झुंझलाहट भी महसूस हुई। ऐसा लगा कि दिद्दी ने अपने घर के चारों ओर एक दीवार सी खड़ी कर दी है, जिसके भीतर जाकर उसके परिवार को पास से देखने की इजाज़त वो किसी को नहीं देना चाहती है।

लोहनीजी, हेनरी पंत, अलख माई और रजुला के बारे में तो वो खुल कर बात कर लेती है, लेकिन अपने परिवार के आत्मीय जनों के बारे में वो एकदम चुप हो जाती है। उसकी पैनी नज़र ने सब कुछ देखा तो था लेकिन वो उनको किसी तरह की चोट या अप्रिय टिप्पणी से बचाना चाहती थी। उसका भ्रम था कि यदि वो केवल उन बातों की चर्चा करे जिनसे उसकी सुखद यादें जुड़ी थीं, तो वो अपने दुखद इतिहास को मिटा सकती थी। इसलिए दिद्दी ने अपने साहित्य में सूरज की रोशनी को अंगूठा दिखाकर रोकना चाहा। कवयित्री एडना सेंट विंसेंट मिले ने कहीं ठीक ही लिखा है: "छुटपन के साम्राज्य में मां-बाप कभी नहीं मर सकते..."

लोहनीजी के लेख में दिद्दी ने अपने पिता की मृत्यु का उल्लेख तो किया है, लेकिन इतनी सफ़ाई से कि हमारा ध्यान उस पर टिकता नहीं। कसून के खांटी पांडे परिवार के गर्दिश के दिनों का विवरण करते समय न तो उसकी आवाज रुकती है, न उसमें हमें कोई ख़ास विषाद सुनाई देता है। वो बहुत सहजता से बताती हुई चली जाती है कि उसके पिता के निधन के बाद, आमा चालीस साल पर विधवा हो गई और अपने नौ बच्चों को अल्मोड़े में अकेले

पालने लगीं। उनके परिवार का एक स्वर्ण युग बीत गया और घर की कई मूल्यवान चीज़ों को बेचना पड़ा। यह प्रसंग लेख के बीच में कहीं दबा है, इसलिए लगता है कि चाहे इस त्रासदी ने कसून के परिवार को झकझोर दिया था, वो उसे परास्त नहीं कर पाई। लेकिन मुझे उसमें कहीं भी कसून की दबंग औरतों का उल्लेख नहीं मिला, और मैं सोचने लगी कहां गई वो दंभी महिलाएं जिन्होंने हमको पाला और हमें हमारे संस्कार दिए?

इसका उत्तर मुझे तब मिला जब मैंने दिद्दी की मां की मार्मिक कहानी को उसके लेखों में ढूंढ़ना शुरू किया।

अपनी नानी को हम आमा कहते थे, और उनका गहरा प्रभाव हम सब पर आज तक साफ़ दिखाई देता है। दिद्दी ने अपनी अंतिम कृति, 'सोने दे', को अपनी मां के एक लंबे रेखाचित्र से आरंभ किया है, जिसमें दिद्दी ने कई दिलचस्प कहानियां और क़िस्से तो भर दिए हैं, लेकिन उनसे जुड़े कई ऐसे पात्र हैं जिनके बारे में वह बिल्कुल चुप हो जाती है। इसीलिए मैंने इस अध्याय में अपनी बहन मृणाल के एक निहायत सुंदर लेख का सहारा लिया है, जिसे उसने **1981** में, आमा की मृत्यु के बाद, मेनस्ट्रीम नामक पत्रिका में आमा की याद में छापा था। मृणाल की क़लम से निकला आमा का चित्र दिद्दी की रोमांटिक यादों से बिल्कुल भिन्न है, उसने अपनी पैनी नज़र से आमा के निर्भीक, दबंग और दमदार व्यक्तिव के उन पहलुओं को दर्शाया है जिसमें वे कसून परिवार की रीढ़ की हड्डी सी उभर के निकलतीं हैं।

मुझे पक्का विश्वास है कि सब बेटियां एक न एक दिन अपनी मां जैसी बन जातीं हैं। जैसे-जैसे दिद्दी की उम्र होती चली गई, वो आमा सी बनती चली गई। आमा की तरह वो मुंहफट और निर्भीक थी, और किसी को खरी खोटी सुनाने से कभी न चूकती थी, चाहे वे अपने बच्चे ही क्यों न हों। इस बात से कई बार उसे लोगों ने ग़लत भी समझा और चोट भी पहुंचाई। आमा को ढोंगी और नाटकीय लोगों से बहुत चिढ़ थी, और उनका ये गुण हम सब को विरासत में मिला है, लेकिन अगर इसे पूरी तरह से किसी ने ने सराहा तो वो थी हमारी दिद्दी। शायद यही कारण था कि दोनों अपने अंतिम समय में सबसे बहुत दूर होती चली गई। अंत तक, वे सुनातीं चलीं गई और सबकी

पोंगापंथी, अपने आप की भी, हंसी में उड़ा ले गई। देखा जाए तो दिद्दी का जीवन आमा के जीवन की ही परछाई है: आमा चालीस साल पर विधवा हो गई थीं, दिद्दी पचास साल पर। दोनो ने स्वयं अपने जीवन को संभाला और यद्यपि दोनों अपने पुत्रों को वहुत प्यार करतीं थीं, अंत समय में दोनों अपनी पुत्रियों की शरण में आईं।

लगता है परिवारों का इतिहास, दुनिया के इतिहास की तरह, एक ही चक्र में निरंतर घूमता रहता है।

छुटपन में हमारे लिए हमारी आमा एक वहुत महान हस्ती थीं। उनके घर और गृहस्थी का प्रभाव हमारे जीवन पर सवसे गहरा था। हम सव नाती-पोते आज तक उन्हें कुछ प्यार, कुछ भय से याद करते हैं। वे कसून की महारानी थीं और सारे शहर में लोग उनसे और उनकी तीखी जुवान से थर्राते थे। अपने जीवन में आमा ने कई ऐसे काम किए थे जिनको उस ज़माने में वेहद प्रगतिशील माना जाता था, लेकिन जहां वात आती थी शादी-व्याह या सामाजिक संवंधों की, आमा घोर दर्जे की रूढ़िवादी थीं। परिवार के लड़कों को वो हमेशा लड़कियों से ऊंचा दर्जा देती थीं। जहां आमा के लिए उनके सौ ख़ून माफ़ थे, उधर हम लड़कियों के लिए ज़ोर से हंसना, सीटी वजाना या वड़ों के वीच दख़ल देना वर्जित था। लेकिन जव भी हम लड़कियों में से कोई अच्छे नंवर लाकर पास होती या उसे कोई पुरस्कार मिलता, सवसे पहले वधाई हमें आमा ही देतीं। आमा पति को हमेशा "मालिक" कहकर संवोधित करती थीं, क्योंकि उनकी नज़र में औरतों के पति उनके मालिक थे। उन्होंने जिन संस्कारों को हम सवमें भरा, उसमें पुरुष का दर्जा औरत से हमेशा ऊंचा माना जाता था। उन्होंने ये कभी स्वीकार न किया कि किसी भी परिवार में एक औरत को उसके पति से ऊंचा ओहदा दिया जाए। शायद यही कारण था कि दिद्दी आजन्म एक पुरुष का साया ढूंढ़ती रही। आख़िर यही उसे आमा से विरासत में मिला था।

इसका एक नतीजा ये हुआ कि दिद्दी के अंदर आजन्म एक द्वंद्व युद्ध चलता रहा। एक तरफ़ उसे खींचता उसका अपना स्वच्छंद स्वभाव, जो किसी को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता था। और दूसरी ओर था अपने मायके

में देखा पैतृक संसार जिसके संस्कार उसे दूसरी दिशा की ओर खींचते थे। यही कारण था कि दिद्दी को किसी प्रकार के "अनैतिक" चाल-चलन से घोर नफ़रत थी—जैसे कि अपने समाज के बाहर शादी करना, बिना शादी किए किसी पुरुष से संबंध जोड़ना, तलाक़ देना, बड़ों के मुंह लगना या संस्कारों की अवहेलना करना। लेकिन अपने लेखन में दिद्दी इन सब नियमों को स्वयं तोड़ती रहती। उसके उपन्यासों व कहानियों की निर्भीक नायिकाएं उन सभी प्रथाओं को तोड़ती थीं जिनसे समाज उन्हें दबाने की कोशिश करता। शायद यही कारण था कि दिद्दी का ध्यान बार-बार उन पात्रों की ओर खिंचता था जो समाज के सब बंधनों से स्वतंत्र होते हैं—संन्यासी, पागल और कोढ़ी।

मेरी एक सहेली से दिद्दी अकारण चिढ़ने लगी: उसने अपने पति को तलाक देकर एक अन्य शादीशुदा पुरुष के साथ रहना शुरू कर लिया था। बात यहां तक आ गई कि जब भी वे हमारे घर आती, दिद्दी तुनक के अपने कमरे में चली जाती, खाना लगता तो मेज़ पर न आकर नौकरों से वहीं अपना खाना मंगवा लेती। "ये क्या बात हुई?" मैंने झुंझला के एक दिन दिद्दी से पूछा। "अगर मैंने वो किया होता जो मेरी सहेली ने किया है तो भी मैं तुम्हारा गुस्सा समझ सकती, लेकिन घर आए मेहमान से ऐसी बदतमीज़ी तो ठीक नहीं।"

"तुम्हें मालूम है मुझे ऐसे लोग बिल्कुल पसंद नहीं हैं," वो बोली। "किसी का घर तोड़ने वाली स्त्री को मैं माफ़ नहीं कर सकती।"

"अच्छा? तो फिर तुम्हारी वह दोस्त जिन्हें हम 'स' मौसी कहते थे, उनके बारे में क्या ख़्याल है?" मैंने उसे छेड़ा। 'स' मौसी दिद्दी की अंतरंग मित्र थीं और शहर के नामी और शादीशुदा सर्जन से प्रेम विवाह करके उनको अपने घर ले आई थीं। सर्जन साहब ने अपनी पहली पत्नी और बच्चे 'स' मौसी के लिए छोड़ दिए थे।

दिद्दी तुरंत उठ के कमरे से चली गई। आमा की पुत्रियों को, उन्हीं की तरह, कुछ भी कह लेने की तो आदत थी, किसी से कुछ सुनने की नहीं।

○

आमा: (शिवानी)

ननिहाल के द्वार से ही लखनऊ की अंबरी तंबाक़ू की मदमस्त .ख़ुशबू लपककर हमें बांहों में भरने चली आती। भीतर जाते तो तख़त पर बैठे मामा किसी किशोरी की सी बल खाती क्षीण कटि की पेंचदार हुक़्क़े की नली मुंह में लगाए गुड़-गुड़ करते दीखते। न सोफ़ा, न दीवान, तख़त पर बिछी दूधिया चादर, सफ़ेद गाबतकिये पर अधलेटे मामू और उनका दरबार, सर तेजबहादुर सप्रू, राजराजेश्वर बली आदि के हाथ में ताश के पत्ते और वे अभिजात्यपूर्ण क़हक़हे, जिन्हें लगाना भी लोग अब भूल चुके हैं। भूलें भी कैसे नहीं, अब सभ्यता की संपूर्ण बारहखड़ी बदल चुकी है, ज़ोर से हंसना, ज़ोर से बोलना, अब इस नवीन समाज में बेहूदापन ही माना जाता है। इधर ड्रिंक्स चल रहे हैं, उधर छौंकी हरी मटर चिखौना बनी चली जा रही है। यूनीवर्सिटी जाने के लिए तांगा ड्योढ़ी पर आ गया, कंठ के घुंघरू, घंटियां, रंगीन मख़मली मालाओं के साज-शृंगार हिलाता घोड़ा अधैर्य से हिनहिना रहा है किंतु बृजलीला क्या उस बृजलीला से कुछ कम है? पान की गिलौरियां, चांदी की ज़ंजीरों में गुथी चली आ रही हैं, गुंबदनुमा चांदी का पानदान बार-बार रिक्त हो रहा है, नानी बार-बार झुंझला रही है कि हद है, निगोड़े ताश क्या हो गए दुश्मन हो गए। नाश्ता कब का आ चुका है, तब नाश्ते में नित्य क़ब्र की दुकान से गर्म जलेबियां आती थीं और साथ में मोटी बालाई उदार कुल्हड़ों में किसी पूर्णयौवना के यौवन सी ही उफ़नती रहती। एक रुपए में दो किलो जलेबी वह भी शुद्ध घी की, मेज़बान भी छक जाएं और मेहमान भी। खा-पीकर मामू तांगे में बैठते, पीतल की चमचमाती गद्दी, कोचवान का मेल खाता व्यक्तित्व, पीछे-पीछे पानदान लिए घर का भृत्य महाबली। नाम के ही अनुरूप दीर्घाकार

व्यक्तित्व, कंठ में काले तागे में बंधी सोने की तबीजिया। घुंघरू छनकाता तांगा जाता तो अंतःपुर का साम्राज्य स्वच्छंद उड़ान भरने लगता—पहले तो नाउन आ गई—तेल-उबटन लगाया, चोटी-कंघी की, आस-पड़ोस के नवीनतम समाचारों की पोटली खोली, कुछ हमसे बटोरे, कुछ हमें सुनाए, फिर आ गई चूड़ीवाली—तब वह हर पखवाड़े चूड़ी बदलने आया करती थी। क्या चूड़ियां थीं तब और क्या पहनने वालियां, शरीर भारी-भरकम भले ही क्यों न हो कलाई रहती नरम गदबदी, छोटी से छोटी चूड़ी चढ़ा दो मजाल जो एक भी टूटे। सवा रुपए में पतला काला सुनहली लच्छा और कंगूरेदार चूड़ी पर क्या बारीक सुनहला काम। हम कभी जिदिया जाते, वही पहनेंगी सीधा-सादा लच्छा नहीं पर नानी की एक गरज सबको चुप कर देती—"जो हम कहेंगी वही पहनोगी!" नानी का वह नूरानी चेहरा और दमकता रंग गुस्से से लाल पड़ जाता तो वे और भी सुंदर लगतीं, यूनानी नाक, प्रत्यंचा सी भवें, सन सफ़ेद बालों से आती असगर अली के चमेली के तेल की भुवनमोहिनी सुगंध, सत्तर वर्ष की उम्र में भी मैंने उनके चेहरे पर झुर्रियां नहीं देखीं—राजरानी की ही भांति रहीं और वैसी ही गईं। चूड़ीवाली चली गई तो नानी दाल-चावल बीनने या सब्ज़ी काटने बिठा देतीं, हम ननिहाल आई थीं इसी से हमें अपेक्षाकृत हल्का काम थमाया जाता। पुरानी नौकरानी महादेई प्रायः छौंक लगाती, "अम्मा जी, बिटियन का बहुत सर मत चढ़ाओ—बिटवा हुआ चंदन के धोखे से माथे पै लगाया, बिटिया हुई लकड़ी के धोखे मां चूल्हे में लगाया।" महादेई की ज़िंदगी ही हमारे यहां कट गई थी। नाना लखनऊ के प्रख्यात चिकित्सक थे, उन्होंने बलरामपुर अस्पताल की नींव रखी थी, महाराज बलरामपुर के पारिवारिक चिकित्सक थे, उन्हीं से वह भवन मांगा था और बाल विधवा नन्ही सी महादेई को अस्पताल की पहली नौकरी जुट गई थी। इसी प्रकार पुत्तूलाल को रोगमुक्त करने पर जब उन्होंने नाना जी को थैली भर

अशर्फ़ियां फ़ीस रूप में दीं तो नाना जी ने अपने परममित्र रमेश दत्त (सुप्रसिद्ध बांग्ला साहित्यकार) के साथ उनसे विनती की, "लखनऊ में लड़कियों का एक भी स्कूल नहीं है आप अपनी धर्मशाला इस सत्कार्य के लिए दान कर दें।" इस प्रकार 'महिला कॉलेज' की स्थापना हुई, पहले कालीबाड़ी के पेड़ के नीचे पहली पांच छात्राओं में मेरी मां भी एक थीं, फिर यही कॉलेज धर्मशाला में आया और आज लखनऊ की एक प्रख्यात शिक्षण संस्था है। इसी में बटलर प्रदत्त एक ऐतिहासिक एल्बम में बटलर के हस्ताक्षर अंत तक मां के पास रहे—"Presented to Leelawati Pant for standing Ist in 8th class."

नाना जी के आदमक़द तैलचित्र, दर्शनीय मूर्ति जो उनके किसी रोगमुक्त कृतज्ञ मरीज़ ने बनाकर दी थी, राजा साहब गौरा का प्रासाद जहां कभी मां की शादी में जनवासा बना था, देखती हूं तो वही लखनऊ सहसा जीवंत होकर आंखों को जुड़ा जाता है। एक बार पंडित मोतीलाल नेहरू भी ननिहाल में आए और उस दिन की स्मृति क्षीण होने पर भी धुंधली नहीं हो पाई। ऐसे ही एक बार मेरे मौसेरे भाई कृष्णा, राजा साहब मांडा (श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह के पिता) की फ़रदार टोपी उतारकर भाग लिए और दुर्दांत कृष्णा की शैतानी से घर भर में हंगामा खड़ा हो गया था। लखनऊ की दोपहर हमारे बचपन का स्वर्णयुग रहता, इसी समय लगभग एक बजे विभिन्न फेरीवालों का आगमन आरंभ होता—ऐसा ठीक समय कि उनकी आगमनी से आप अपनी घड़ी मिला लें। पहले आता रंगीन शक्कर के बने फलों का फेरीवाला; जो जी में आए खाइए, दाम दो पैसा। आम है कि लगता है सीधा मलीहाबाद जाकर डाल से टपकने को तत्पर पका दशहरी तोड़ लाया है, अंगूर, जामुन, लोकाट और पका चित्तीदार केला। फिर आता शक्कर के बने गिलासवाला—लालटेन की चीमनी लो, शीशे का गिलास लो। लीजिए साहब, लाइए इकन्नी और चबाइए गिलास। फिर

आता बिसाती कंघा, आईना, नक़ली बुंदे, बटन, रंगीन फुंदा, मिस्सी-सुरमा। कभी-कभी बंगाली साड़ियों वाला भी हांक लगाता—'कापोड़' और हमारे हृदय पेंडुलम से हिलने लगते। पांच रुपए में बढ़िया धरनेवाली डूरे, पंद्रह में लाल पाड़ की गरद और दो-दो रुपए में लेसवाले कलकतिया पेटीकोट और कभी-कभार पेटी सर पर धरे गुजराती दंपती बायस्कोप दिखाने चले आते। दो पैसे में नौ मन की धोबिन, मक्का-मदीना से लेकर देवर का भाभी के पैर से कांटा निकालना भी हम देख लेते—कैसा रंगीन वैविध्यपूर्ण वैचित्र्य। आज की आर्ट फ़िल्म भी अब वह आनंद नहीं दे पाती। नौटंकी में हमारा जाना सर्वथा वर्जित था, पर एक बार बड़ी चिरौरी कर हम देखने चले गए। घर के नौकरों का जाना एकदम बंद कर दिया गया था क्योंकि एक बार हमारी ननिहाल का एक सरल पहाड़ी नौकर नौटंकी की नायिका पर ऐसा मुग्ध हुआ कि नौकरी छोड़कर घर चला गया। बाद में उसने उसी ग़म में आत्महत्या कर ली। किंतु महाबली बुज़ुर्ग हो चला था उस पर हमारे सौभाग्य से उसकी एक आंख में मोतियाबिंद उतर आया था, उसी को लेकर हम गए, नायिका की एक पंक्ति मुझे आज भी याद है, 'मेरी आंखें नहीं शमशीर हैं ये।'

गर्मियों में ही हम छुट्टियों में लखनऊ आते और तब लखनऊ की अपनी मौलिक छटा उत्तुंग शिखर पर रहती। अमीनाबाद की नुक्कड़ पर एक प्रसिद्ध चाट की दुकान थी, तब न आज के से चाटकिंग थे न आडंबर। एक बूढ़ा मालिक, सर पर दोपलिया और बुर्राक कुर्ता पहने बैठता, पांच बजे ही दुकान खुलती और इसमें कोई संदेह नहीं कि चाटकिंग न होने पर भी वह चाट का बेताज बादशाह था। हरी मटर और पानी के बताशे उसकी विशिष्टता थी, बताशे भी ऐसे कि मुंह में धरिए तो घुलकर साफ़, दनादन दाग़ते चले जाइए पेट भर जाएगा, मन नहीं। न तब चिल्ड बीयर की दुकानें थीं न कैंपा-कोला, ओले का शर्बत सौंफ़ डला, ये बड़े-बड़े ओले जैसे सीधे इंद्र के औदार्य से

पृथ्वी पर चले आए हों, कैसी तृप्ति और कैसी ठंडक—लखनऊ की लू से जूझने और पराजित करने वाला यह आयुध न जाने अब कहां खो गया है। आज से चार वर्ष पूर्व मृत्युशय्या पर पड़ी मेरी मां ने कहा था, "मुझे एक बार बाबू की कोठी पर ले चल," मैं सुन चुकी थी कि वह कोठी शायद बलरामपुर राजा साहब ने ख़रीदी, फिर किसी मुसलमान सज्जन ने। अभी भी ड्योढ़ी पर बने दो पत्थर के शेर वैसे ही धरे हैं और संगमरमर के चौकोर पत्थर पर अभी भी नाना का नाम ज्यों का त्यों धरा है 'डॉ. हरदत्तपंत'। "क्या करोगी वहां जाकर अम्मा," मैंने उन्हें बहलाने की चेष्टा की। मैं जानती थी कि उस अवस्था में उनका वहां जाना असंभव था—अब वह किसी और का है, भले ही किसी का हो, एक बार भीतर जाकर ज़ोर से पुकारूंगी—'अम्मा'। बेचारी अम्मा पुकारतीं भी तो वह व्यर्थ गुहार उन निर्जीव प्राचीरों से टकराकर, उन्हीं तक पलट आती।

आज, मुझे लखनऊ भी अम्मा के मायके के खंडहर सा एक बृहत खंडहर ही लगता है। जी में आता है मैं भी उस विराट खंडहर में खड़ी होकर बार-बार गुहार लगाऊं और वह उतनी ही बार लौटकर मुझे झकझोरती रहे।

❍

आमाः (मृणाल)

जब गठिया और आंखों की रोशनी कम होते जाने से आमा एक तरह से अपनी कुर्सी तक सीमित होकर रह गई और उन्हें मेरी मां के पास रहने आना पड़ा—अपनी उस बेटी के पास जिससे वे लड़ती थीं, जिसे डांटती थीं और सबसे ज़्यादा

प्यार भी करती थीं, लखनऊ में दिद्दी (अपनी मां) के घर में आमा के साथ मैं एक लंबा, अलसाया सा महीना रही थी। वे अपने अतीत को याद करती रहती थीं, उस दौरान मैंने एक ऐसी आमा को देखा जिनसे मैं अब तक अनजान थी, जिनकी जीवन-गाथा में मैंने एक पूरी पीढ़ी की त्रासदी देखी, जो महान भी थी और बीमार भी, और वे क्रूर दोहरे मापदंड भी जिन्होंने इस कमज़ोर छोटी सी स्त्री को व्यावहारिक बना दिया, साथ ही उनके सामने नामुमकिन सी चुनौतियां भी खड़ी कर दीं।

जब मेरे नाना जी से आमा की शादी हुई, तब उनकी उम्र मात्र सात साल थी, जबकि उनके पति अठारह साल के थे। चौदह साल की उम्र में उनकी पहली संतान एक बेटी हुई। इस बेटी का विवाह भी बारह साल की आयु में हो गया, अगले ही बरस उसने एक पुत्र को जन्म दिया, इस तरह मात्र सत्ताइसवें साल में आमा आमा बन गई। लखनऊ के एक प्रमुख डॉक्टर की सबसे छोटी बेटी आमा सामंतवादी लखनऊ के सुसंस्कृत और उदार मूल्यों के बीच हुई थी। वे याद करतीं कि बचपन में कैसे अपने माता-पिता के साथ बैठकर वे कई -कई रात तक चलने वाले शास्त्रीय गायन व नृत्य के कार्यक्रम देखा करती थीं, जिनमें काल्का-बिंदादीन जैसी हस्तियां अपने कौशल की प्रस्तुति किया करती थीं। विवाह होने तक आमा ने कुमाऊंनी नहीं बोली थी। उनके ससुराल पक्ष के लंबी नाक वाले कसून के पांडे कुलीन, विलग और अत्यंत रूढ़िवादी थे, घर में वे सिर्फ़ कुमाऊंनी ही बोलते थे। उनके श्वसुर (ससुर) संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे, अल्मोड़ा शहर में उनका आतंक था। अपने बीसवें दशक में जब आमा युवा दुल्हन थीं, उस समय उन्होंने उस ब्राह्मण के विरुद्ध स्थानीय मुहिम छेड़ रखी थी, जिसने उच्च शिक्षा के लिए जापान जाने का निर्णय लिया था और वहां से वह डॉक्टरी की डिग्री लेकर लौटा था। इस युवा डॉक्टर ने मांग की थी कि उसे पंचगव्य (गौमूत्र और गोबर समेत शुद्धीकरण की पांच वस्तुओं का मिश्रण) चटाकर प्रायश्चित करवाकर जाति बहाल किया जाए। कसूनों का मानना था कि अगर इस युवा उद्दंड एंग्लोफ़ाइल को जाति बहाल किया गया, तो न केवल पवित्रतम कुमाऊंनी ब्राह्मण दूषित होंगे, बल्कि इससे ऐसी ही सोच रखने वाले

युवा महत्वाकांक्षी भी विदेश जाने और गौ-मांस खाने के लिए प्रेरित होंगे और फिर वापस आकर वे पंचगव्य खाकर शुद्ध होने की मांग करेंगे। नहीं! वे गरज उठे, साहचर्य के कारण एक बार जो म्लेच्छ हो गया, वह हमेशा ही म्लेच्छ रहेगा!

कुमाऊंनी ब्राह्मणों में जो उदारवादी थे—उनमें आमा के डॉक्टर पिता भी एक थे—वे इस पक्ष में थे कि ब्राह्मणत्व की अनम्य सीमाओं को थोड़ा लचीला किया जाए। उनका विचार था कि अगर ब्राह्मण अनम्य बने रहेंगे तो उन्हें अपने वर्ण के कुछ बुद्धिमान युवकों को खोना पड़ जाएगा। (डॉक्टर साहब की इस धारणा की एक मुख्य वजह यह भी थी कि उनका अपना बेटा भी उन दिनों इंग्लैंड में क़ानून की पढ़ाई कर रहा था।) अपने ही रिश्तेदार के इस विश्वासघात से भड़के आमा के श्वसुर ने फ़रमान जारी किया कि अब वे अपने पिता के घर क़दम भी नहीं रखेंगी। अगर वे गईं तो वे अपने पुत्र के लिए दूसरी पत्नी ले आएंगे। युद्ध की सीमाएं खिंच गई थीं। कसून वंश के नेतृत्व में रूढ़िवादी एक ओर हो गए थे और स्थानीय चंपा नौला वंश के डॉक्टर और उनके रिश्तेदारों के नेतृत्व में उदारवादी दूसरी ओर थे। जब आमा के इंग्लैंड से बैरिस्टर बनकर लौटे इकलौते भाई का विवाह हुआ, तो उन्हें विवाह में सम्मिलित होने की अनुमति नहीं मिली, लेकिन उनसे कहा गया कि वे अपने सबसे अच्छे कपड़े और सबसे भारी ज़ेवरात पहनें और नीचे सड़क पर निकलती बरात पर अपनी छत से पुष्प वर्षा करें।

आमा, उनके अपने शब्दों में, मां के थन से अलग की गई बछिया जैसी थीं। उनकी मां भी दिन-रात रोती थीं, आख़िरकार एक साल तंग आकर उनके पति ने अल्मोड़ा में उनके लिए एक और घर ले दिया जिसकी छत से वे अपनी लाड़ली बिटिया को देख लेती थीं। उस साल उन तरसी हुई मां-बेटी ने शहर की अनेक सहृदय चाचियों-मौसियों की मदद से एक तरीक़ा ढूंढ़ निकाला जिसमें अच्छा-ख़ासा पैसा पाकर घर की जमादारिन शौचालय के पीछे के दरवाज़े से युवा दुल्हन को निकालकर अपने साथ उसके पिता के घर ले जाती, जहां मां कपड़ों-मिठाइयों के ढेरों उपहार लिए उनसे मिलती, चंद पल पारिवारिक कुशल-क्षेम पूछी-कही जाती, फिर आमा को वापस पहुंचा दिया जाता।

ऊपरी तौर पर एकदम पक्की लगने वाली सभी योजनाओं की तरह यह भी लंबे समय तक नहीं चली। एक दिन, जब आमा लौटीं, तो देखा कि पिछवाड़े के दरवाज़े के पास ही उनके श्वसुर खांस रहे हैं और तेज़-तेज़ क़दमों से टहल रहे हैं। 'कहां गई थीं?' वे दहाड़े, आमा डर से जड़ हो गई। उन्होंने घोषणा की कि उसी क्षण से वे कसून पांडे परिवार के लिए मर गई और अब वापस उसी शौचालय में चली जाएं, जहां से आई हैं। अब तक, उनके विशाल आंगन में उत्सुक तमाशबीनों का जमावड़ा लग गया था, जो बेचारी बहू के लिए 'च्च' तो कर रहे थे, मगर क्रोधित वृद्ध का उल्लंघन करने का साहस उनमें नहीं था। 'बड़ी रामलीला के बाद,' आमा के शब्दों में, यह तय हुआ कि एक नक़ली श्राद्ध—घटश्राद्ध—किया जाए और आमा का पुनर्नामकरण करके उनका अपने पति से पुनर्विवाह हो। समुचित ढंग से यह किया गया। आमा के शरीर के प्रतीक स्वरूप एक घड़े में जल भरकर उसे तोड़ा गया और आमा का पुनर्जन्म हुआ मान लिया गया। 'उसी दिन से,' आमा ने बताया, 'मैंने मृत्यु के बाद की या अकेले होने की चिंता करना छोड़ दिया।'

इसके बाद शीघ्र ही आमा की सास गुज़र गई और उनके पति का परंपराओं पर से विश्वास उठ गया। उन्होंने अपनी युवा पत्नी को विश्वास में लेकर बताया कि वे मांस खाने लगे हैं और उन्होंने भी इंग्लैंड जाने का प्रबंध कर लिया है। मगर, उनके दो साल बाद इंग्लैंड से लौटने तक आमा को इसे गोपनीय ही रखना था। अब आमा तो मन ही मन चिंता से घुली जा रही थीं, उन्होंने अपने श्वसुर से झूठ बोल दिया कि उनका बेटा पढ़ाई के लिए दक्षिण में कहीं गया है। चूंकि यह समझा जाता था कि स्त्रियों को तो बाहरी दुनिया के बारे में ज़्यादा कुछ पता नहीं होता, इसलिए यह झूठ चल गया। मगर शीघ्र ही एक गुमनाम पत्र आ पहुंचा, जिसमें व्यंग्य से उन वृद्ध महाशय से पूछा गया था: 'अब जब आपका अपना बेटा म्लेच्छों के देश गया है, तो कैसा लग रहा है? विदेश से लौटे युवकों को समाज बहिष्कृत करने को लेकर क्या अभी भी आपके वही विचार हैं?'

आमा बताती थीं कि भीष्म पितामह की तरह उनके श्वसुर ने भी भयानक

प्रतिज्ञा कर ली: कि अपने पुत्र के घोर पाप के प्रायश्चित स्वरूप वे काशी चले जाएंगे और साधु-संन्यासियों की तरह गंगा के तट पर प्राण त्यज देंगे। इस समय तक उनकी दोनों आंखों की रोशनी लगभग जा चुकी थी, मगर वे चले गए। अपने नौ बच्चों के साथ आमा एकदम अकेली रह गई थीं, ऐसे शहर में जो उन दिनों ब्राह्मण स्त्रियों को अकेले बाज़ार-हाट जाने की इजाज़त नहीं देता था। कुमाऊं उन दिनों एक टापू की तरह था, जो एक दुर्गम्य सड़क के माध्यम से दूर स्थित बरेली शहर के रेलवे जंक्शन से जुड़ता था, वो सड़क भी ऐसी थी जिस पर हृष्ट-पुष्ट पुरुष के लिए चलना भी दूभर था। फिर भी आमा आंसू बहाती घुलती रहने को तैयार नहीं थीं। इसके बजाय उन्होंने अपने बच्चों को लिया, वफ़ादार नौकरों को बुलाया और सबसे छोटी संतान और ज़ेवरों से भरे पानदान को साथ ले पालकी में बैठकर चल दीं। बाकी बच्चे नौकरों के साथ पीछे-पीछे आए। किसी तरह यह सर्कस बनारस पहुंचा, उन्होंने विषाद और क्रोध से भरे पितामह को ढूंढ़ा, उन्हें शांत किया और अपने साथ वापस लेकर आईं। 'स्त्री के साथ पुरुष हमेशा उपस्थित रहना चाहिए,' वे मुझसे कहतीं, 'भले ही वह पुरुष के आकार में आटे का लौंदा क्यों न हो। स्त्री को अपने दम पर सब संभालते देखना किसी को अच्छा नहीं लगता, समझी?'

आगे चलकर आमा को इससे भी बड़ी मुसीबतों का सामना करना था। चालीस की आयु तक पहुंचने से पहले ही वो विधवा हो गईं, उन्होंने अपने उन्नीस वर्षीय बेटे टी.के. (त्रिभी) को शांतिनिकेतन से लौटकर ओरछा रियासत में पिता का पद संभालते, फिर भारतीय पुलिस दल को चुनते और अपने पिता की तरह ही कम उम्र में काल कवलित होते देखा। इसके बाद, अपनी ज़िंदगी के शेष सालों में से अधिकांश आमा ने अपने पैतृक घर में बिताए, जो दारिद्रय और उपेक्षा के कारण उनके सामने बिखरता रहा। मगर किसी ने भी, उनके अपने बच्चों तक ने भी इस जुझारू स्त्री की व्यर्थ गई ज़िंदगी पर न तो शोक किया, और न ही उनकी ज़िंदगी के ह्रास के लिए सामाजिक-राजनीतिक बदलावों को दोषी ठहराया, जैसा कि मेरे मामा के मामले में उन्होंने किया था। पुरुषों ने बार-बार उन्हें हताश किया, फिर भी आमा की पीढ़ी की स्त्रियों के लिए

स्त्री का एकमात्र अस्त्र पुरुष ही थे—भले ही वे दुधारी घात करें। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि पुरुषों को, जिनका स्त्रियों के जीवन पर एकछत्र नियंत्रण है, चाहे स्वयं के जीवन पर उनका नियंत्रण न हो, नियंत्रित किया जाना चाहिए—आवश्यक हो तो छल-प्रयोग से भी। मेरी मां में अंतिम गुण का अभाव उनके लिए हमेशा चिंता का विषय रहा था।

...वे अक्सर हमसे कहती थीं कि एक ट्यूमर के कारण बंगलौर में पति की अचानक मृत्यु हो जाने के बाद उनके साथ कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसका वे सहारा ले सकतीं। शवगृह से वे स्वयं उनके शव को घर लाईं, स्वयं अंतिम संस्कार का सारा प्रबंध किया, और फिर अपने विशाल मकान और सारे सामान को बेचकर बच्चों तथा नौकरों को लेकर अल्मोड़ा लौटने का किराया जुटाया। 'उस एक हफ़्ते में मेरे आंसू मेरे सिर में चढ़ गए और बाल एकदम सफ़ेद हो गए,' वे कहा करती थीं। मेरे ख़्याल में वे बार-बार हमें यह कहानी सुनाकर उस एक हफ़्ते के भयानक दौर से स्वयं को मुक्त करना चाहती थीं, जब वे पुरुषमुक्त, बंधनमुक्त एकदम अकेली रह गई थीं। इसी ने उन्हें वह स्त्री बना दिया था जो मुझे याद है: एकाकी, कुछ-कुछ चिड़चिड़ी सी, जो हर समय सामाजिक लोकाचारों के बारे में दो टूक बातें कहकर अपने समाज और बहुओं को तिरस्कृत करती रहती थीं, मगर जिनकी नाक इतनी तेज़ थी कि वो बिना किसी चूक के पाखंड को सूंघ लेती थीं।

3

शांतिनिकेतन

सन् **1902** में महाकवि टैगोर ने बंगाल के बोलपुर के सांथाल इलाके में एक अनोखे गुरुकुल की स्थापना की, जिसका नाम उन्होंने रखा "शांतिनिकेतन"। हालांकि टैगोर परिवार बंगाल का सबसे प्रसिद्ध सामंती परिवार माना जाता था, रवींद्रनाथ को अपने परिवार के वैभव व ज़मींदारी से कोई ख़ास दिलचस्पी न थी। उनका मानना था कि इसी सामंती जीवन के कारण इन परिवारों के बच्चों का विनाश होता था और अपने बचपन के संस्मरण में उन्होंने कहीं उल्लेख भी किया है कि उनको अपने मां-बाप का सच्चा प्यार उनसे दूरी के कारण न मिल पाया। पैसा, मान-सम्मान, रवींद्रनाथ बहुत देख चुके थे: वे पहले भारतीय लेखक थे जिन्हें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया, और उनको देश के सर्वोच्च कवि और कलाकार के रूप में सराहा जाता था। जब उन्होंने शांतिनिकेतन की स्थापना की, वे एक प्रकार से जीवन से उदासीन हो चुके थे। उनका इकलौता बेटा हैज़े में जाता रहा और दोनों बेटियां टीबी को बलि चढ़ चुकी थीं। और रह क्या गया था उनके लिए कलकत्ते में पाने या खोने को? शायद इन्हीं सब कारणों की वजह से कलकत्ते की खोखली ठाठदार ज़िंदगी से एक प्रकार का संन्यास लेकर उन्होंने शांतिनिकेतन में एक नया जीवन शुरू किया।

शांतिनिकेतन एक आश्रम ही नहीं, एक नई शिक्षा का विकल्प भी था। उन दिनों, भारत में गांधीजी के नेतृत्व में अपने देश की मौलिक सांस्कृतिक छवि को बदलने का एक ज़बरदस्त अभियान चला हुआ था। टैगोर उन सैकड़ों

बुद्धिजीवियों में से थे जो शिक्षा के माध्यम से देश की सोच में एक बदलाव लाना चाहते थे। दिद्दी के अपने दादा भी ऐसे ही एक आदर्शवादी बुद्धिजीवी थे और पंडित मदन मोहन मालवीय के घनिष्ठ मित्र। उनके साथ मिलकर उन्होंने बनारस विश्वविद्यालय की नींव डाली थी और वहां के ज्योतिष विभाग के वे प्रथम मुखिया नियुक्त हुए। लेकिन जब बात आई अपने पोते-पोतियों को उच्च शिक्षा देने की, तो उन्होंने उन्हें बनारस नहीं, सुदूर बंगाल के शांतिनिकेतन भेजने की ठानी। इस कारण के पीछे एक दिलचस्प इतिहास है।

दिद्दी की जो तस्वीरें मुझे मिलीं, उनमें एक बेहद सुंदर फ्रेम में हमारे नाना की तस्वीर थी। हमारे नाना, जिन्हें उनके बच्चे 'हब्बी' कह के पुकारते थे, बहुत ही ठसकेदार आदमी थे। इस तस्वीर में वे स्टूडियो की एक कुर्सी पर हाथ में सिगार लिए, ठेठ अंग्रेज़ी पोशाक में सजे-धजे, रौबदार अंदाज़ में बैठे हुए हैं। सिर पर है एक शानदार कलग़ीदार साफ़ा, जो उन दिनों सब रियासतों में पहनना अनिवार्य था। उनकी शक्ल दिद्दी से बहुत मिलती-जुलती लगती है।

हब्बी अपने पिता से बिल्कुल विपरीत प्रवृत्ति के इंसान थे। उन्हें अपने पिता के ब्राह्मण लोक से कोई लगाव न था: वे सिगरेट और शराब पीते, क्लब जाने वाले साहब थे। उनके दोस्त थे रजवाड़ों के भड़कीले लोग, लेखक, कवि और कलाकार। अंग्रेज़ी के स्कॉलर थे और उनके लेख अक्सर प्रसिद्ध पत्रिका "एशिया मैगज़ीन" में छपते थे। कमून की लाइब्रेरी में उनकी कई किताबें सालों तक दिखती थीं, जिनके पहले पन्ने पर ख़ास लिखावट में उनका कलात्मक हस्ताक्षर देखकर हम उनकी प्रतिभा की कल्पना करते। एक की मुझे स्पष्ट याद है: 'मैनईटर्स ऑफ कुमाऊं" पर लिखा था "टू माई अफ़ेक्शनेट फ्रैंड अश्विनी, जिम कॉर्बेट"। पता नहीं वो किताबें अब कहां हैं। बहरहाल, हब्बी के पिता को अपने बेटे के ये साहबी लटके समझ नहीं आते थे और इस डर से कि वे अपने बच्चों को भी अपना जैसा न बना दें, उन्होंने अपने ज्येष्ठ पोते त्रिभी को नैनीताल से मिस मम्फ़र्ड के क़ब्ज़े से हटा के अल्मोड़े में लोहनीजी के सुपुर्द कर दिया था। और जब पोते-पोतियों को बड़े स्कूल भेजने का समय आया तो उनको उनके पिता के रजवाड़ों की अय्याश ज़िंदगी से बहुत दूर शांतिनिकेतन

भेज दिया। देखा जाए, तो दिद्दी के दादा और टैगोर की शक्ल भी काफी मिलती है। दोनों की लंबी, श्वेत दाढ़ी थी और लंबा काला चोग़ा पहनते थे।

अल्मोड़े से शांतिनिकेतन या कहीं भी जाने के लिए निकटतम रेल का स्टेशन आज तक भी काठगोदाम है। उन दिनों, अल्मोड़े और काठगोदाम के बीच मोटर सड़क तक न थी, तो दिद्दी, उसकी बड़ी बहन जयंती और भाई त्रिभी वहां तक पैदल जाते थे। इस यात्रा को तय करने में करीब दो दिन लग जाते और साथ में होते लोहनीजी और कई नेपाली कूली जिन्हें सामान ढोने के लिए नियुक्त किया जाता था। रात को जब पड़ाव पड़ता तो लोहनीजी बच्चों के खाने का इंतज़ाम करने में जुट जाते। चुपचाप से दिद्दी और त्रिभी मामा नेपाली कूलियों की 'रसोई' में पहुंच जाते जहां एक अनोखा मछली का झोल बन रहा होता। बेचारे ग़रीब कूली थोड़े मसालों को पतीले में डाल पास की नदी से कुछ पत्थर चुन लाते जिनमें मछली की सुगंध होती और उसे पतीले में डाल के उसके झोल के साथ अपना भात या रोटी खाते। मामा और दिद्दी लोहनीजी और जयंती की नज़र बचाकर उनसे उनका खाना मांगने बैठ जाते।

शांतिनिकेतन में बिताया समय दिद्दी को कभी न भूला। वहां की स्वच्छंद और उदार शिक्षा प्रणाली ने उसे कितना प्रभावित किया इसका उसने एक बार नहीं, बार-बार उल्लेख किया है। उसने कुछ ही समय में बंगला भाषा सीख ली और अपनी पहली कहानी दिद्दी ने हिंदी में नहीं, बंगला में ही लिखी थी। मुझे लगता है कि जिनका कान सुरीला होता है उन्हें भाषाएं सीखने में आसानी होती है। दिद्दी का कान बहुत सुरीला था और वो कोई भी भाषा बहुत सहजता से सीख लेती थी। शांतिनिकेतन में उसे संगीत सीखने का अवसर मिला और वो टैगोर के प्रसिद्ध नृत्य-नाटिकाओं में अक्सर गाती थी और आश्रम की टोली के साथ कलकत्ते जाती। उसी से सुनी वहां की बातों से हमें पता लगा कि दिद्दी बहुत चुलबुली और नटखट मानी जाती थी, और बातून। गुरुदेव की मुंहलगी छात्रा भी थी और उनकी हर नई योजना में भाग लेने को तत्पर। उसके एल्बम में कई तस्वीरें हैं—किसी में वो बड़ा सा बिस्तरबंद लिए अपनी सहेली के साथ उसे ढोकर अपने हॉस्टल को ले जा रही है, कहीं बैलगाड़ी में बैठ गन्ना चूस

रही है, कहीं बनारस में एक बजरे में फ्रेंच फिल्ममेकर रेनोआ की टीम के साथ है, जो उन दिनों गंगा पर कोई फिल्म बनाने हिंदुस्तान आए थे। कितने सहपाठी हैं —जो बाद में कला और साहित्य में प्रसिद्ध हस्तियां बने—सत्यजीत रे, बलराज साहनी, मृणालिनी साराभाई, जया अप्पास्वामी, कनिका देवी, शंखो चौधरी और न जाने कौन-कौन। मैं सिर्फ कल्पना ही कर सकती हूं कि दिद्दी—जो सुंदर भी थी और मेधावी भी—आश्रम में कितनी लोकप्रिय रही होगी।

टैगोर का अपने शिष्यों से जो संबंध था वह अनुसरणीय भी था और उससे उन्होंने अपने हर छात्र पर अपनी प्रतिभा की बेमेल छाप भी छोड़ी। इसमें एक बड़ा योगदान स्वयं शांतिनिकेतन जैसी संस्था का भी था जहां का उदार व स्वच्छ वातावरण हर बालक के अंत:करण को बदल देता था। अंत तक, शांतिनिकेतन के उल्लेख भर से दिद्दी का चेहरा खिल उठता था और वह एक बार फिर अपने को उस छोटी लड़की के रूप में देखने लगती जो गुरुदेव के चरणों में शिक्षा ग्रहण करने अल्मोड़े से बंगाल तक पहुंची।

उन दिनों, अल्मोड़े में कई बुद्धिजीवी, साधु-संन्यासी व कलाकार आया करते थे। अल्मोड़े का प्राकृतिक सौंदर्य और वहां का शांत वातावरण शायद उन्हें यहां खींच लाता था। ऐसे लोगों में से एक थे पंडित उदय शंकर, जिन्होंने अल्मोड़े से कुछ दूर सिमतोला में एक अनोखी डांस अकादमी की स्थापना की। यहां आते जाने-माने भारतीय व विदेशी कलाकार व नर्तक और कुछ ही दिनों में ये अल्मोड़े का "बोहीमियन" इलाका घोषित कर दिया गया। शहर के खूसठ लोगों ने अपने घर के युवा लोगों को वहां न जाने की हिदायत दी लेकिन दिद्दी और उसकी बड़ी बहन जयंती अक्सर वहां जाया करते थे। शांतिनिकेतन में पढ़े, वे शहर के अन्य परिवारों से अधिक प्रगतिशील तो थे ही, दोनों को वहां रचे डांस ड्रामा की पोशाकें व गहने ढूंढ़ने में मदद करने के लिए अक्सर बुलाया जाता था। टैगोर स्वयं भी अल्मोड़ा भ्रमण करने आते थे। रहते तो वे शहर के देवदार होटल में थे लेकिन कसून भी पधारते थे। उनकी पोती से दिद्दी की ख़ूब दोस्ती थी तो दोनों साथ-साथ समय बितातीं। दिद्दी और उसकी बहन जयंती कभी वहां शहर के लोक-गायकों को ले जातीं और गुरुदेव को

उनके गाने सुनवातीं: दिद्दी ने स्वयं लिखा है कि इस प्रकार पहाड़ी लोक संगीत शांतिनिकेतन तक पहुंचा।

दिद्दी ने अपने शांतिनिकेतन के संस्मरण एक नन्ही सी किताब, *आमादेर शांतिनिकेतन,* में इतनी ख़ूबसूरती से लिखे हैं कि उसे पढ़कर लगता है वह सारा युग पुन: जीवित हो उठा है। मेरी समझ में ये उसकी सबसे सुंदर कृतियों में है, लेकिन आगामी लेख मैंने उसमें से नहीं लिया है। बहुत साल पहले दिद्दी ने अपने प्रिय गुरु, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक रेखाचित्र लिखा था जिसमें उसकी छुटपन की यादें ऐसे झलकतीं हैं कि मन भर आता है।

भूली कहां हूं

पंडितजी का, गुरु-रूप में परिचय, मेरे जीवन में एक श्रेष्ठ संपदा के रूप में सर्वदा संचित रहा है। अपने व्यक्तिगत सौभाग्य से मैं उस उदारमना व्यक्तित्व के स्नेहमय साये में आठ वर्ष तक रही। आज जब उन आठ वर्षों के संस्मरण संजोने बैठती हूं, तो सहसा 1935 के आश्रय-रंगमंच के रेशमी पर्दे स्वयं सरसराकर उठ जाते हैं। आश्रम के 'खेलार माठ' से एक लाल सड़क के हाशिये से विभाजित दूसरा धूलि-धूसरित मैदान था और उसी से लगी थी 'गुरुपल्ली'। एक ही कतार में ताड़-खजूर और मालती लता के साये में खड़े, एक नक़्शे के बने, कच्ची मिट्टी की खपरैल से छाए मकानों में पहला मकान था बड़े पंडितजी का, व्यक्तित्व में गृहस्वामी की ही भांति सरल, छोटा सा बरामदा, फिर एक बरामदा, कोने में बिछा लकड़ी का तख़्त, अलमारी में उसी विभिन्न आकार की पुस्तकों का स्तूपाकार गट्ठर, फिर एक

बरामदा, आंगन और आंगन से ही लगी छोटी सी कोठरी में बनी भाभी की सुरम्य रसोई, जहां से आती उत्तरप्रदेशी नथुनों से पूर्वपरिचित खाद्य-सामग्री की सुगंध-लपट, बंगाल के 'घंट', 'चड़चड़ी', 'कोपीर डालना' और 'आलू पटल' के सर्वथा नवीन अटपटे स्वाद की कसक को पल भर में धो-पोंछकर बहा देती। पंडितजी के यहां तो हम उत्तरप्रदेशी छात्राओं का अड्डा ही था। भूख लगी तो चल दी। कभी भी समय-असमय हमारा आक्रमण निरीह भाभीजी की रसोई पर होता और वे हंसकर हमारा स्वागत करतीं। गोरे बूटे से क़द की आनंदी भाभीजी कभी मूड़ी का पूरा कनस्तर ही उतारकर हमारे सम्मुख रख देतीं, सरसों के तेल में सनी, हरी मिर्च और कच्चे प्याज़ में बनी वह मूड़ी, सुरदुर्लभ पदार्थ लगती और देखते ही देखते वह पूरा कनस्तर साफ़ हो जाता। धोती, ढीला कुर्ता और अंडी की चादरधारी पंडितजी दूर ही से पहचाने जाते। लडबा क़द, न दुर्बल, न स्थूल, प्रशस्त माथा, आंखों में अनूठी चमक और अधरों पर बात-बात पर उतर आने वाली स्निग्ध हंसी।

उनके पढ़ाने का अपना अनूठा ढंग था। कभी-कभी अपने कट्टर गुरुजी की कहानियां सुनाते और कभी सामान्य सी बूंदा-बांदी होने पर ही भीगने की छुट्टी कर देते। यह आश्रम की एक विशेष प्रकार की मौलिक छुट्टी होती थी, वर्षा होने पर कोई भी कक्षा अपने अध्यापक के साथ 'भीगने की छुट्टी' मनाने जा सकती थी। कभी अनिल चंदा के साथ गाते, हो-हल्ला मचाते हम लोग 'श्रीनिकेतन' की ओर चले जातेः

श्रावनेर गगनेर गाय, विघुत् चमकिया जाए,
क्षणे-क्षणे, शर्वरी सिहरिया उठे हाय...

शर्वरी सिहरे न सिहरे, समवेत कंठ-स्वर से आश्रम की दिशाएं अवश्य सिहर उठतीं।

पंडितजी की कक्षा में, इस छुट्टी के अतिरिक्त, एक प्रकार की

छुट्टी और भी होती थी जब कभी कुछ चुने छात्र-छात्राओं को पंडितजी के लिए ब्लेड, साबुन आदि लेने आश्रम की एकमात्र दुकान 'को-ऑपरेटिव स्टोर' तक भेजा जाता। लाने वाले के लिए सचमुच पारिश्रमिक की भी व्यवस्था रहती, इसी से इस उदार प्रस्ताव को स्वीकार करने कभी-कभी पूरी कक्षा ही चल पड़ती। किंतु प्रत्येक शांत व्यक्ति की भांति पंडितजी का क्रोध भी बड़ा विकट होता था। एक बार हमारी कक्षा के एक अत्यंत निरीह छात्र शरणप्रसाद को पंडितजी ने पढ़ाते समय आंवले की गुठली कड़काते पकड़ लिया। उन दिनों आश्रम में छात्र-छात्राओं के इस 'आमल के भक्षण' से सभी अध्यापक परेशान थे। जिसे देखो, वहीं आंवले की गुठलियां मुंह में सुपारी सी कुतर रहा है। एक-दो बार पंडितजी कुछ अन्य छात्राओं को इस उद्दंड कुड़क-कुड़क के लिए डपट चुके थे, "तुम लोग यहां आंवला खाने आती हो या पढ़ने? अब किसी को गुठली कड़काते देखा तो बाहर निकाल दूंगा—समझी?"

उन्होंने कहा था और समझनेवालियां ख़ूब समझती थीं कि गरजने वाला यह निरीह मेघ कभी बरसता नहीं।

उस बार हमारी कक्षा का शरणप्रसाद न जाने कैसे पकड़ में आ गया। "क्यों शरणप्रसाद," पंडितजी का चेहरा तमतमा उठा, "कितनी दर्जन गुठलियां हैं मुंह में? खोलो मुंह!" शरणप्रसाद ने भोले कन्हैया की भांति मुंह खोलकर त्रैलोक्य-दर्शन करा दिए। स्पष्ट था कि गुठली बाज़ीगरी सफ़ाई से जीभ के नीचे छिपा ली गई है।

"हूं!" पंडितजी बोले, "हम क्या समझते नहीं, जीभ के नीचे छिपा ली है? खड़े रहो पूरा पीरियड। उसे देखो।"—मेरी ओर उंगली दिखाकर उन्होंने कहा, "अभी नई-नई आई है पहाड़ से, कैसे सिर झुकाए शांत गऊ सी बैठी रहती है! एक तुम हो, इतने दिनों से आश्रम में हो, पल भर सीधे नहीं बैठ सकते?"

उस सार्वजनिक सभा में अपनी प्रशंसा सुनकर मैं अपनी प्रसन्नता

का गह्वर सहसा रोक नहीं पाई। ऐसी खांसी उठी कि जीभ के नीचे बड़े छलबल से छिपाई गई आंवले की गुठली गोली सी छिटककर सीधी पंडितजी की गोद में जा गिरी। पहले वे चौंके, फिर ठहाका मारकर ज़ोर से हंस पड़े।

उस उदार गुरु का वह राशिभूत अट्टहास आज भी रह-रहकर मेरी स्मृति-प्राचीर में गूंज उठता है। कान उमेठकर लेखनी की सही पकड़ सिखाने वाले उस सहृदय गुरु के संस्मरण क्या एक आध हैं?

घटा तले हिंदी कक्षा के मुट्ठी भर छात्र-छात्राएं पंडितजी को घेरकर बैठे हैं। उन दिनों हमारे पाठ्यक्रम में 'सुंदर कांड' था और पढ़ाते थे स्वयं पंडितजी। अपनी अंडी की चादर गुड़ी-मुड़ी कर लपेट पंडितजी हिल-हिलकर 'सुंदर कांड' पढ़ाने लगते तो लगता कि पूछने को कुछ है ही नहीं। एक-एक दोहा, चौपाई उलझे तागे सी स्वयं सुलझती जाती। लगता, जैसे अवनींद्र ठाकुर की रोचक 'गल्पेर क्लास' का ही पीरियड चल रहा हो।

तब एक काव्य-संग्रह हमारे पाठ्यक्रम में था, उस पीरियड को भी पंडितजी ही लेते, पर काव्य-संग्रह पढ़ाने में पंडितजी को न जाने क्यों विशेष रुचि नहीं रहती। "क्या करोगी यह सब यहां पढ़कर, घर में पढ़ लेना।" एक दिन मैं पीछे पड़ गई, "घर पर भला कौन बैठा है पढ़ाने वाला, परीक्षा सिर पर आ गई है; अब तो आप पढ़ा ही दीजिए।"

"मूरख कहीं की," बार-बार एक कविता का अर्थ समझा देने की ज़िद से पंडितजी झल्लाकर बोले, "क्या धरा है इसमें समझने को!"

मुझे आज भी वह कविता याद है और सोचती हूं, पंडितजी नहीं भूले होंगे। कविता थीः

कोकिल बोलो तो!
प्राणों में मधु घोलो तो...

"अब कोकिल है," पंडितजी बोले, "कौआ तो है नहीं, जो कांव-कांव होगी। कुहू-कुहू कर रही होगी, बस घुल गया होगा, प्राणों में मधु, जाओ भागो—छुट्टी।" इस सहज, सजीव व्याख्या के पश्चात भला कुछ पूछने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता था? कभी-कभी दस मिनट पहले ही ऐसी अप्रत्याशित छुट्टी मिल जाती, पर कभी व्याकरण की कक्षा में अनुशासन की पतली जानलेवा रस्सी पर, किसी क्रूर नट पिता की ही भांति पंडितजी हमें चढ़ाकर एक-एक नपा-तुला क़दम रखना सिखाते थे।

"व्याकरण की क्लास में फांकी देकर क्या कभी एक ढंग का निबंध भी लिख पाओगी तुम लोग? और यह गउरा," अचानक वे मुझ पर बरस पढ़ते, "जितनी ही सीधी थी, उतनी ही शैतान हो गई है। देखेंगे अब हम तुमको, एक दिन कान जऽड़ से उखाड़कर रख देंगे। आज ही कहेंगे जयंती से,"—जड़ के बीच एक विशेष मीड़ सी खींचकर पंडितजी ऐसे सहमा देते, लगता कान सचमुच ही जड़ से उखाड़ा जा रहा है, पर कहना व्यर्थ है—मुझे वह एक दिन देखने को कभी न आया, कर्णद्वय अभी भी समूल सुरक्षित हैं और मेरी बड़ी बहन जयंती से मेरी शिकायत जड़ने की भयावह धमकी सदा कक्षा तक ही सीमित रही।

पाठ्यक्रम की पुस्तकों को ही पढ़ाने की पंडितजी को विशेष चिंता नहीं रहती, वैसे कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण की नीरस बारहखड़ी जिस महत व्यक्तित्व ने बड़े परिश्रम से रटाई है—यह जब स्मरण करती हूं तो गर्व से फूलकर कुप्पा हो उठती हूं।

कभी-कभी हमारी पूरी कक्षा को ही तारे निकलने पर, पंडितजी के घर आने का निमंत्रण मिल जाता, "जाओ, भागो सब आज इस पीरियड को इस बेला नहीं पढ़ाएंगे, हमें गुरुदेव के पास जाना है, संझा को घर पर आना, वहीं पढ़ाएंगे।" पता नहीं इस युग के शिक्षाशास्त्री इस विचित्र शिक्षा-पद्धति के विषय में क्या कहेंगे, पर ऐसी सरस कक्षा,

बोलता, चलता-फिरता पाठ्यक्रम और छात्र-छात्राओं की भीड़ को 'पाइड पाइपर' की सी जादुई वंशी-धुन से खींचे लिए जा रहे पंडितजी। क्या अनुशासनहीनता के इस युग में, जहां प्रतिवर्ष परीक्षा-भवन में उद्दंड छात्र वर्ग, क्रुद्ध, बर्बर, आदिमयुगीन हृदयहीनता से अनेक अध्यापकों को अपने अचूक भाले या छुरे का निशाना बना, समय से पूर्व ही अवकाश-ग्रहण करवा देते हैं, यह सब कुछ अविश्वसनीय नहीं लगता?

गुरु की परिभाषा शायद अब बदल गई है; पर लाख बदले, हमारी मोबाइल कक्षा की स्मृति कभी नहीं बदल सकती—ली कार्बुजे निर्मित वर्ण-विन्यास की जटिल अभिरामतापूर्ण नगरी चंडीगढ़ में रहकर भी निश्चय ही नई सभ्यता के विघटनकारी संस्पर्श से अछूती गुरुपल्ली के अपने उस कच्ची मिट्टी के आंगन में जुटी हमारी मुंहलगी कक्षा की भीड़ को नहीं भूले होंगे...।

एक-एक बार, आकाश के रहस्यमय सौरमंडल से परिचय चलता। "वह रहा सप्तर्षि," सहसा एक ही अंगूठे की धुरी पर गोल घूमते पंडितजी सप्तर्षि से परिचय कराने लगते।

"अरे,· कहां है पंडितजी?"

"अरे, इस मूर्ख कुसुम को कुछ नहीं सूझता—देखतीं नहीं?"

फिर आकाशगंगा की दुरूह पहेली सुगम हो उठती। आज जब मेरा पुत्र बहुमूल्य विदेशी यंत्रों से विभूषित नैनीताल की 'ऑब्ज़रवेटरी' से विराट आकाश की महिमा पहली बार देख मुझ अपनी पांडित्यपूर्ण दलीलों से प्रभावित करने की चेष्टा करता है तो मुझे हंसी आती है, "इतनी पावरफ़ुल दूरबीन है कि बस—" मैं कैसे उस नन्हे मस्तिष्क को समझाऊं कि जिस शक्तिशाली दूरबीन से मैंने सौरमंडल को देखा है, उससे वह कभी नहीं देख सकता।

पंडितजी एक-एक तारे की महिमा समझाते जाते और आकाश के समग्र जगमगाते तारे, जैसे झुक-झुककर परिचित मित्र की भांति

मुस्कराकर हमसे हाथ मिलाने लगते। न तब हमारे पास दूरबीन थी, न कोई यंत्र। विचित्र ऑब्ज़रवेटरी का विचित्र संचालक था। केवल कंठनली टेपरिकॉर्ड था और लंबे-लंबे हाथों को हिला-हिलाकर समझाया गया सुगम रोचक पाठ। अचानक रात के खाने का घंटा बजता, आश्रम के प्रत्येक घंटे का अपना अनोखा ही आरोह-अवरोह रहता। एक-दो-तीन-चार-पांच—बीते समय का ध्यान आता और हम भोजनालय की ओर भागते।

दूसरे दिन व्याकरण का पीरियड है। आज पंडितजी गुरुदेव का नया लिखा उपन्यास 'चार अध्याय' ले आए हैं। कई दिनों तक पढ़-पढ़कर पंडितजी हमें सुनाते रहे। मौलसिरी के विराट वृक्ष की छाया में एक बार पंडितजी गुरुदेव की उन पर लिखी गई पंक्ति 'डेके आनो बालुकडांगार पंडित हजारीप्रसाद के' को पढ़कर बड़ी देर तक हंसते रहे थे। उनकी इसी हंसी के विषय में मुझे कुछ कहना है। जैसे मुक्ता को गुणी जौहरी नेचुरल और कल्चर्ड की परिभाषा में बांधकर रख देते हैं—हंसी को भी इसी मापदंड से मापा जा सकता है। कल्चर्ड पर्ल की बनावटी लालिमा की ही भांति कल्चर्ड हंसी का पानी भी मुझे छिछला लगता है। किसी विदेशी चलचित्र के जटिल परिहास को न ग्रहण कर पाने पर भी, कंठ से जबरन खींचकर निकाली गई हंसी, जो सबकी हंसी बंद हो जाने पर भी बड़ी देर तक हॉल में गूंजती रहती है, ऐसी ही कल्चर्ड हंसी है।

पर एक दूसरी ही हंसी होती है—असली पानीदार मोती की दमक से स्वयं दमकती और दूसरे को दमकाती, दिशाएं गुंजाती, रोड़े-पत्थर ठेलती, पहाड़ी झरने सी सरस जलधार जो पास खड़े लोगों को भिगोती चली जाती है—ऐसी ही हंसी थी पंडितजी की। हो सकता है, अब बदल गई हो, पर ऐसी हंसी बदलती कम है। पंडितजी हिलते तो पूरा शरीर हिलने लगता। आश्रम में गज़-गज़ की दूरी पर असंख्य कक्षाएं

बिखरी रहतीं। पंडितजी हंसने लगते और सब मुड़कर देखने लगते। एक ही रस्सी में बंधी कई घंटियां एक साथ खनकने लगतीं।

''क्यों जी कमला, कल बड़े सवेरे तुम्हारा भाई संकट, लाल लंगोट लगाए डंड पेल रहा था।'' अचानक अपनी छात्रा के लाल लंगोटधारी डंड-प्रेमी सहोदर की स्मृति पंडितजी को गुदगुदा जाती और वे एक ठहाका लगाकर हंस उठते।

एक बार पंडितजी ने बड़ी सी दाढ़ी रख ली थी। बस, फिर क्या था—पूरी कक्षा उनके पीछे पड़ गई। ''छिः-छिः पंडितजी! एकदम जोगी बाबा लग रहे हैं आप। कटवानी ही होगी दाढ़ी।'' पंडितजी बराबर कहते कि ''कुछ फुड़ियां निकल गई हैं, इसी से दाढ़ी बढ़ा ली है, कोई शौक़ से थोड़े ही पाली है।'' पर उनकी कौन सुनता? आज अपनी बचकानी ज़िद पर हंसी भी आती है।

अंतरराष्ट्रीय साहित्यिक ख्याति के उस विद्वान गुरु की कैसी मुंहलगी कक्षा थी हमारी—कभी साबुन-ब्लेड के मूल्य से भी अधिक बड़ी बेईमानी से वसूल किया गया कमीशन, कभी दाढ़ी कटवाने की ज़िद, कभी अकारण ही सामान्य सी बूंदा-बांदी का बहाना बनाकर मांगी गई छुट्टी।

कुछ वर्ष पहले, अपने क्षणिक प्रयाग-प्रवास के बीच भी समय निकालकर पंडितजी मुझसे मिलने आए। वही परिचित स्नेहस्निग्ध हंसी, वही मोटे हौर्नरिम का चश्मा और ढीला कुर्ता—बस, नहीं थी तो अंडी की चादर और शायद उसी के बिना मेरा रेखाचित्र अधूरा सा बुना जा रहा है।

एक बार पंडितजी ने मुझे लिखा था, ''तुम्हारी पुस्तिका मिली, पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। शांतिनिकेतन का उन दिनों का तुमने ऐसा सजीव चित्र खींचा है कि कई दिनों तक उन स्मृतियों से पीछा नहीं छूटा। उस छोटी सी पुस्तिका में शांतिनिकेतन जितना सजीव हुआ है, उतना बड़े-बड़े पोथों से नहीं हो पाया। तुममें छोटी-छोटी किंतु महत्वपूर्ण

आत्मीयताव्यंजक बातों के द्वारा संपूर्ण को जीवंत बनाने की बड़ी क्षमता है।''

उक्त पुस्तिका मैंने एक परिचित प्रकाशक के विशेष आग्रह पर लिखी थी—साथ में प्रकाशक ने एक लुभावनी पुरस्कार-योजना की भी घोषणा की थी। सौभाग्य से पुरस्कार मुझे नहीं मिला, पर अपने गुरु द्वारा प्रदत्त प्रशंसा का यह अनूठा कोहिनूर मेरी साहित्यिक मंजूषा का सबसे जगमगाता रत्न है।

उसी दिन से मेरी लेखनी एक ऐसे गहन वन में वनमृगी सी निर्भीक छलांगें लगाने लगी है, जहां उसे क्रूर से क्रूर व्याध के बाणों का भी भय नहीं रहा है। पर आज सब संस्मरणों की पोटली खोलकर लिखने बैठी हूं तो संपूर्ण को जीवंत बनाने की 'क्षमता' सहसा खो बैठी हूं। 'गुरु-शापात् स्मृति-भ्रष्टा।' का सा आभास हो रहा है।

पंडितजी के बहुरूपी व्यक्तित्व की कई रंगीन स्लाइडें एक-एक कर उभर आती हैं :

हिल-हिलकर सुंदर-कांड पढ़ाते पंडितजी।

संकट लाल की लाल लंगोटी की स्मृति पर ठहाका लगाते पंडितजी।

'जऽड़' से कान उखाड़ने की धमकी देते पंडितजी।

दाढ़ी बढ़ाए, अंडी की चादर लपेटे, मिट्टी के आंगन में गोल-गोल पैर के अंगूठे की धुरी पर घूमते आकाश के अतिथियों से परिचय कराते पंडितजी और अंत में—कार से उतरते रेशमी कुर्ते और धोती में पहले से कुछ-कुछ बदले पंडितजी—क्यों फ़ोकस बार-बार बिगड़ जाता है? अच्छे चित्र के लिए कलाकार बैकग्राउंड को बड़ा महत्व देते हैं। चित्र बने भी कैसे? एक बार भी यदि पंडितजी फिर उसी कच्चे मकान के आंगन में खड़े हो सकते! गुड़ी-मुड़ी कर ओढ़ी गई चादर, ढीला कुर्ता और कांख में दबा 'विश्वभारती' का नारंगी रजिस्टर—एक बार भी यदि गरजकर कह सकते—''देख लेंगे तुमको एक दिन—कान जऽड़

से उखाड़कर रख देंगे...''

तब शायद फिर संपूर्ण को जीवंत बनाने की क्षमता पा लेती।

एक बार पूज्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने मेरे एक पत्र के उत्तर में लिखा थाः

''अपनी पुरानी छात्र-मंडली को कभी भूल सकता हूं। मेरे सामने तुम सब छोटी-छोटी छात्राओं के रूप में उसी प्रकार साकार हो। तुम लोगों को कैसे भूल सकता हूं! कामकाज में भूलकर भूलना भी कोई भूलना है!''

गुरुदेव ने लिखा थाः

''अन्यमने चलि पथे
भूलि ने की फूल
भूलि ने की तारा
तबुओ ताहारा
प्राणेर निश्वास वायु करे सुमधुर
भूलेर शून्यता मांझे भरि ये सुर
भूले थाका, नय शे ते भोला—

''अन्यमनस्क पथिक यदि राह चलते, तारों और खिले फूलों को नहीं देख पाता तो क्या उन्हें भूल जाता है? वे ही तो उसके प्राणों की निश्वास वायु को सुमधुर बनाते हैं। भूलने की शून्यता में वही तो स्वर भर देते हैं। इसे भला भूलना कहते हैं!''

गुरुपल्ली की मीठी स्मृति भी मेरे प्राणों की निश्वास वायु को चिरंतन माधुर्य से भरती, भूलने की शून्यता में मीठे स्वर भरती रहेगी और इसी से मैं भी कहती हूंः

भूली कहा हूं?

4

दिद्दी और बाबू

1943 में, दिद्दी विश्वभारती से जब अल्मोड़ा वापस लौटी, उसके पास थी दर्शन-शास्त्र में बी. ए. ऑनर्स की डिग्री। इस बीच दिद्दी के पिता का अचानक निधन हो चुका था और परिवार पर दुखों का पहाड़ सा टूट पड़ा। पैसों की तंगी तो थी ही, फिर भी दिद्दी ने शांतिनिकेतन में अपने अंतिम साल की पढ़ाई पूरी कर ही ली। इस ख़र्चे का भार उठाया उसकी बड़ी बहन जयंती ने, जो अब शांतिनिकेतन में पढ़ाने लगी थीं, और दिद्दी के प्रिय मित्र हामिद भाई ने, जो रामपुर नवाब के क़रीबी रिश्तेदार थे। यही कारण था कि दिद्दी हामिद भाई को अंत तक अपना सच्चा भाई मानती थी।

कसून का स्वर्ण युग बीत चुका था और आमा अपने विशाल परिवार को किसी तरह पाल ही रही थीं। अपने रिश्तेदारों से तो उन्हें कोई ख़ास मदद न मिली तो रामपुर से मिली एक छोटी से पेंशन के सहारे किसी तरह निर्वाह होता था। घर की सभी मूल्यवान चीज़ों को बेचना या गिरवी रखवाना पड़ा था। मुझे याद है कि आमा के कसून वाले कमरे में एक बड़ा सा लकड़ी का संदूक़ हुआ करता था। एक बार मैंने उनसे पूछा था, "आमा, इसमें क्या रखा है?"

"अरे, अब तो कुछ नहीं है, लेकिन कभी इसमें मेरे दहेज के चांदी के बर्तन रखे जाते थे," वे लापरवाही से उधर हाथ हिला के बोलीं।

"तो कहां गए सब?" मैंने पूछा।

आमा ज़ोर से हंसीं और अपने गुदगुदे पेट को सहलाते हुए बोलीं, "यहां!"

जब तक हम बड़े हुए तब तक उस निधि में से बस एक चांदी का थाल ही बचा था और वो आमा की पूजा में स्थापित था, जिन पर उनके ठाकुर जी विराजमान थे।

दिद्दी की ही तरह, त्रिभी मामा की भी पढ़ाई तब चल रही थी, लेकिन उनको भी अपने पिता के निधन के बाद अल्मोड़ा लौटना पड़ा और कुछ ही समय बाद, वे टीकमगढ़ में ओरछा महाराज के निजी सचिव नियुक्त हो गए। किसी ज़माने में इनके पिता वहां दीवान थे और ओरछा शाही परिवार से कसून के परिवार का एक लंबा व घनिष्ट संबंध रहा है, जिसे आज तक हम बहुत मानते हैं। त्रिभी मामा की तब नई-नई शादी हुई थी, और वे अपनी सुंदर दुल्हन दया, जो दिद्दी की अभिन्न मित्र थीं, को लेकर अल्मोड़ा से टीकमगढ़ चले गए। इसी मामी को देखने कभी लोहनीजी को भेजा गया था। दया मामी के कहने पर, और शायद इसलिए कि दिद्दी अपने परिवार पर अब और बोझ नहीं डालना चाहती थी, दिद्दी ने उनकी मर्ज़ी के वर से शादी करने के लिए अपनी अनुमति दे दी। वर थे मेरे पिता, शुकदेव पंत, जिनकी पहली पत्नी का हाल में ही निधन हो चुका था।

दिद्दी और बाबू की कहानी भी एक अजीब दास्तान है, और किसी उपन्यास से कम दिलचस्प नहीं।

मेरे पिता की पहली पत्नी, गंगा, और उन दोनों की प्रेम कहानी आज मुझे किसी अठारहवीं शताब्दी के रोमांटिक उपन्यास का प्लॉट सा प्रतीत होती है। बाबू एक मेधावी छात्र थे, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कैमिस्ट्री के टॉपर और सबको आशा थी कि वे ज़रूर आई.सी.एस. का इम्तेहान पास कर लेंगे। दुर्भाग्यवश ऐसा न हुआ और परिवार की परिस्थिति ऐसी थी कि उनको स्कूल में मास्टर की नौकरी करनी पड़ी। मामला और पेचीदा तब बन गया जब उन्हें गंगा नाम की एक सुंदर लड़की से प्रेम हो गया। गंगा को टी.बी. था, और बाबू के पिताजी को किसी तरह ये रिश्ता मंज़ूर न था। "तुम्हारा दिमाग़ ख़राब है?" वे गुस्से में गरजे, "जानते हो उस लड़की को क्षय-रोग है?" उन दिनों टी.बी. एक ऐसा अभिशाप था जिसने कुमाऊं के कई परिवार नष्ट कर दिए

थे। जिनके पास साधन होते, वे मरीज़ों को किसी सैनिटोरियम ले जा के उनकी जान बचाने की कोशिश करते लेकिन इसका ख़र्चा उठाने की क्षमता कुमाऊं के निर्धन परिवारों में किसी-किसी में ही थी।

सुनते हैं, बाबू ने भी ज़िद पकड़ ली और आख़िर उनके पिता को हार माननी ही पड़ी। तब तक गंगा की हालत और नाज़ुक हो चुकी थी और शादी के मंडप में ही वे बेहोश होकर जब गिर पड़ीं तो सुनते हैं बाबू उन्हें अपनी गोद में उठा के अंदर ले गए। मैं जब इस दृश्य की कल्पना करने की कोशिश करती हूं तो दिमाग़ चकराने लगता है। उन दिनों में, जब संभ्रांत घरों के पुरुषों को भरी सभा में अपनी पत्नी को हाथ लगाने की हिम्मत नहीं होती थी, इस हादसे को लेकर अल्मोड़े में कितनी चर्चा हुई होगी! बहरहाल, साल भर के अंदर उनकी एक नन्ही बेटी भी हो गई—हमारी बहन बीनू—और इसके शीघ्र बाद गंगा की हालत इतनी बिगड़ गई कि उन्हें गेठिया सैनिटोरियम ले जाना पड़ा। लेकिन बाबू की भरपूर सेवा और डॉक्टरों की दवा-दारू भी उन्हें न बचा पाए और बाबू से शादी करने के लगभग दो साल बाद, एक बच्ची को छोड़, वे चल बसीं।

उनके गुज़र जाने के बाद हमारे दादा बाबू के पीछे पड़ गए कि वो दुबारा घर बसाएं। अपनी कहानी "लाटी" में दिद्दी ने कहीं पर लिखा है कि जाड़े की रात और जवानी बहुत लंबी होती है। शायद ये एक कारण था या शायद इसलिए कि बीनू को पालने का सवाल भी था—जो भी हो, बाबू और दिद्दी की शादी मई **1945** में संपन्न हुई। और ठीक नौ महीने बाद, फरवरी **1946**, उनकी पहली बेटी, मृणाल का जन्म हुआ। दिद्दी ने हमसे कभी इस प्रसंग को लेकर कोई बात नहीं करी, न हमें कभी ये बताया कि उसने इतनी आसानी से इस अजीब रिश्ते को क्यों मान लिया। न कभी उसने हमें ये खुल के बताया कि अपने उदार व समृद्ध बचपन के बाद उसे बाबू के घोर सनातनी और पुराने विचारों के परिवार में अपने को ढालने में कितनी मुश्किल हुई थी। याद रहे, बाबू तब एक स्कूलमास्टर ही थे और पैसों की कमी थी। दिद्दी को सुघड़ता या किफ़ायत से घर चलाने की शिक्षा कभी नहीं मिली थी। सालों बाद, जब

उसने इन परिस्थितियों से समझौता कर लिया था, तब कभी वो हमें हंसाने के लिए उस समय में अपनी अनोखी घर-गृहस्थी की कहानियां मज़ेदार लतीफ़े बना के सुनाती थी। लेकिन उस कठिन समय की जो भी दुखद यादें थीं, उसे उसने केवल अपनी कहानियों में लिखकर मिटाया।

मृणाल के पैदा होने के पहले दिद्दी टीकमगढ़ चली गई, क्योंकि अब आमा और त्रिभी मामा वहीं रहने लगे थे। पहुंचने पर आमा ने दिद्दी को आदेश दिया कि वो बीनू को उसके ननिहाल से फ़ौरन बुलवा भेजे जिससे कि दोनों बच्चे साथ-साथ पलें। इस काम के लिए बाबू को नैनीताल भेजा गया। सालों बाद, एक दिन दिद्दी ने मुझे उस समय का एक ऐसा किस्सा सुनाया जिसे मैं कभी नहीं भूल पाई हूं। किसी ने दिद्दी को उस दृश्य का वर्णन दिया था जब बाबू नन्ही सी बीनू को नैनीताल से टीकमगढ़ ले जाने के लिए काठगोदाम के स्टेशन पर ट्रेन के लिए प्लेटफॉर्म पर खड़े थे। बीनू उनका हाथ पकड़े प्लेटफ़ॉर्म पर खड़ी थी और उसका ध्यान पास एक मुर्गियों की टोकरी पर था। वो बार-बार बाबू का हाथ हिला के कह रही थी, "मुग्गी, मुग्गी!" और बाबू, अपने आप में खोए से, उसकी ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दे रहे थे। न जाने उनके दिमाग़ में उस समय क्या-क्या चल रहा होगा। गंगा से ये अंतिम बिछड़ना, भविष्य की चिंता, पैसों की चिंता... जो भी हो, उस दृश्य को दिद्दी भी कभी न भूला पाई। शायद इसी वजह से बीनू के प्रति दिद्दी हमेशा बेहद संवेदनशील रही। अंत तक, बिना पहले बीनू को दिए दिद्दी मीनू और मुझे एक तिनका भी न देती और अपनी वसीयत में उसने बीनू के लिए एक ख़ास धनराशि अलग से रखी हुई थी। लेकिन ये रिश्ता एकतरफ़ा कभी न रहा। बीनू ने उसे वही प्यार दिया जो सगी औलाद देती है, और उस धनराशि को हम सबमें बराबर बांट कर ही स्वीकार किया।

जब बीनू टीकमगढ़ पहुंची, तो वो बहुत कमज़ोर और सहमी हुई थी। और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। आख़िर उसे अपनी मां का दूध तक पीने को न मिला होगा और फिर एक साल के अंदर वो कभी एक घर कभी दूसरे घर पहुंचाई जाती थी। दिद्दी के एल्बम में एक फ़ोटो है जिसमें नन्ही सी बीनू

और मीनू एक से फ़्रॉक पहने खड़ी हैं। मीनू का मुंह खुश है और उसके गोद में एक ख़रगोश का वच्चा है। वीनू ने गले में अपनी मां की एक माला पहनी है और भौंहों में गांठ डाले तस्वीर लेने वाले की ओर विना मुस्कुराए देख रही है। उस तस्वीर को देख के अव लगता है कि वीनू को अपना वनाने के लिए दिद्दी को कितना कठिन परिश्रम करना पड़ा होगा। सुना, आमा ने उससे तव कहा था, "पराई औलाद पालना और हथेली का मांस खाना एक वरावर होता है, गौरा! पर मुझे वचन दो कि तुम अपने वच्चों और उसके वीच कभी भेदभाव न करोगी।"

दिद्दी ने अंत तक यह वचन निभाया और इसमें उसका साथ दिया कसून के समूचे परिवार ने। इस सौतेले रिश्ते को हमने कभी इस नाम से जाना ही नहीं। हमारे परिवार ने वीनू की मां के नाम को लेकर हमेशा के लिए एक गहरी चुप्पी साध ली। नतीजा ये हुआ कि मुझे इस इतिहास का पता वहुत दिनों के वाद चला।

मीनू के पैदा होने के कुछ समय के वाद वावू और दिद्दी नैनीताल चले आए जहां वावू को विरला ट्रस्ट द्वारा खोले एक नए पव्लिक स्कूल में कैमिस्ट्री पढ़ाने के लिए नियुक्त किया गया। आमा की मुंहबोली वेटी, मोहिनी, जिन्हें उन्होंने अपने वच्चों की तरह शांतिनिकेतन में पढ़ाया था, अव वहां मेट्रन थीं और उन्होंने दिद्दी को इस समय में वहुत सहारा दिया। हमारे दादा अव वहुत वीमार थे और दिद्दी को उनकी तीमारदारी और दो छोटी वेटियों को पालने में काफ़ी काम करना पड़ता था। मेरा जन्म **1951** अल्मोड़े में हुआ, और उसी साल वावू ने प्रदेश के शिक्षा विभाग में प्रवेश किया। एक वार फिर हमारा परिवार अल्मोड़े पहुंच गया जहां अव वावू डिस्ट्रिक्ट इंस्पेक्टर ऑफ़ स्कूल्स नियुक्त हुए। इस तरह हम कैंटूनमेंट वाले घर में रहने लगे। मेरे जन्म का मतलव था कि अव उनकी तीन छोटी वेटियां थीं, छोटा सा वेतन और यहीं से शायद शुरू होता है दिद्दी और वावू का संघर्षमय संवंध।

आज जव मैं उन दिनों को याद करने की कोशिश करती हूं, मुझे लगता है कि दिद्दी और वावू के वीच छत्तीस का आंकड़ा था। दिद्दी थी खुले स्वभाव

की, हंसने और हंसाने वाली: वावू थे गंभीर, मितभापी और गुमसुम रहने वाले। दिद्दी का हाथ खुला था: बावू थे आदतन किफ़ायती। दिद्दी को घर-गृहस्थी से कोई लगाव न था, उसे रसोई चलाना या सुघड़ता से काम करना एक मुसीवत लगती थी: वावू चाहते थे वे अन्य सुगृहणियों की तरह घर का कामकाज खुद करे, नौकरों पर न छोड़े। दिद्दी को मांस-मच्छी अति पसंद थे: वावू का परिवार घोर वैष्णवी प्रवृत्ति का था, सामिष खाने से उन्हें आंतरिक घृणा थी। दिद्दी हमें अक्सर वताती थी कि अपने मायके में उसने खाट के अलावा चार पैर वाली हर चीज़ खाई थी, और पतंग के अलावा हर उड़ने वाले का ज़ायका लिया था। घर में जव कभी गोश्त वनता तो वावू घिन के मारे उस दिन मेज़ पर न खाते और दिद्दी जान-वूझ के हड्डियों को ज़ोर से दांत से तोड़ के उनका मैरो चूसकर उनकी घृणा पर हंसती। घर में खड़ाऊं पहन के खट-पट आवाज़ कर चलने में भी दिद्दी को वहुत आनंद आता था ये जानते हुए कि वावू को व्यर्थ के शोर से कितनी चिढ़ थी। इसी तरह जव उसे मालूम था कि वावू को तेज़ महकवाली अगरवत्ती या खुशवूदार चीज़ों से चिढ़ है, वो अपनी पूजा में तेज़ सुगंधवाली अगरबत्ती अवश्य जलाती। ज़ाहिर है, दोनों के बीच ख़ूव कहा-सुनी होती और कई बार दिद्दी लाल नाक लिए जव घर में घूमती तो सवको पता चल जाता कि दोनों के बीच कुछ हुआ है। बावू को चिढ़ाने में दिद्दी को एक अनोखा मज़ा आता था, और उसके पीछे एक कारण भी था। ऐसा करने से वो बाबू को ये जताना चाहती थी कि उसे बदलने वाला आज तक कोई पैदा नहीं हुआ है: कर लो जो चाहो।

अजीब बात ये है कि वावू के निधन के वाद, दिद्दी ने मीट-मच्छी खाना एकदम छोड़ दिया। उसे अभी भी सामिष खाना वेहद पसंद था, वल्कि एक बार उसने मीनू से कहा कि एक टिन सार्डीन के लिए वो कुछ भी कर सकती थी, लेकिन वावू के वाद उसने अपना यह प्रण कभी न तोड़ा। हमारे लिए वो कवाव और कोरमा वनाती लेकिन मजाल है जो कभी नमक चखने के वहाने एक टुकड़ा मुंह से भी लगा ले।

दिद्दी वावू से न डरने का नाटक तो काफ़ी कर लेती थी लेकिन सच ये

था कि उसे हमेशा उनका सहारा या समर्थन भी चाहिए था। बाबू कुछ कहते कभी न थे पर उनकी एक दृष्टि से दिद्दी के मुंह पर बना वाक्य आधा ही रह जाता था। वो भुनभुनाती और कोसती ज़रूर थी, लेकिन हमारे घर में किसकी बात ज्यादा अहम मानी जाती थी, ये उसे भी मालूम था और हमें भी। बाबू का ब्रह्मास्त्र था उनकी चुप्पी। जब उनको किसी बात पर गुस्सा आता वे हफ़्तों तक बोलना बंद कर देते। घर में किसी को ये पूछने की हिम्मत न होती कि आख़िर किसने क्या कह या कर दिया है, और हम उनसे दूर चुपचाप घर में परछाइयों की तरह दीवारों से चिपके रहते। कोई किताब पढ़ने का उपक्रम करता कोई होमवर्क करने का। और चारों ओर होती हमारे मां-बाप के बीच एक गहरी चुप्पी। इसके पीछे कौन सा हादसा है, ये हमने कभी पूछने की हिम्मत नहीं करी।

दिद्दी इस युद्ध में हमेशा हारती थी। वो लाल नाक लिए, एक त्रासदी की पात्र की तरह अपना काम करने हमारे बीच आती तो हम सब उससे आंख चुरा लेते। उसकी पीठ के पीछे कभी हम उसका मज़ाक़ भी उड़ाते थे, और आपस में हमने उसका नाम 'रूडॉल्फ़ द रेड-नोज़्ड रेनडियर' रखा था। कभी-कभी, जैसा कि बच्चे अक्सर करते हैं, मैं सोचती थी कि उनमें से अगर एक मर जाएगा तो कम से कम इस चुप्पी से तो हम मुक्त होंगे। फिर सोचती थी, हम कैसे अपना पालन-पोषण करेंगे, हमारी बहादुरी की सब कितनी तारीफ करेंगे, वग़ैरह-वग़ैरह। आज तक, मुझे किसी भी तरह की चुप्पी बेहद घबरा देती है। शायद मेरा बातून स्वभाव बचपन की उस मनहूस चुप्पी को आज तक बातों से भगाना चाहता है। मुझे उन सब बच्चों से ईर्ष्या थी जिनके मां-बाप एक दूसरे से प्यार से बोलते, जो अपने परिवारों को लंबी छुट्टियों पर दूर घूमाने ले जाते, और जिनके घरों में पैसों को लेकर इतनी बहस न होती।

लेकिन आज मैं ये मानती हूं कि दिद्दी का रूडॉल्फ़ बनके हमारे बीच अपना दुख जताना कितना ग़लत था। वो चाहे बाबू और अपने बीच के रिश्ते की बात हमसे नहीं करती थी, उसका दुख हमसे कभी न छिपा था। नतीजा ये था कि बाबू बचपन में हमारे लिए एक हऊवा बन गए: हम उनसे उचित दूरी

रखते। उनसे हम सवने वही रिश्ता वनाके रखा जो उनके मूड से मेल खाता था: वे खुश होते, तो हम उनके साथ मुस्कुरा लेते थे। वे चुप होते तो हम उनसे दूर अपने कमरे में दुबक के बैठे रहते। और जव वे कभी दौरे पर शहर से वाहर जाते तो घर का वातावरण अचानक वदल जाता। वावू के क़दम फ़ाटक से वाहर न पड़ते कि पूरे घर में एक ख़ुशी की लहर दौड़ जाती! कोई रेडियो को पूरे वॉल्यूम पर चलाकर उस पर फ़िल्मी गाने ज़ोर-ज़ोर से लगा देता, कोई उनके पलंग पर खड़े होकर कूदता और सव चैन की सांस लेते, कि चलो अव कुछ दिनों के लिए तो चुप्पी से मोहलत मिली! जितने दिन वावू दौरे पर रहते, घर में हंगामा होता और हंसी की वहार। लेकिन जैसे ही उनके वापसी का दिन आता, घर फिर से मुरझा जाता। सालों वाद, जव मैंने 'साउंड ऑफ़ म्यूज़िक' पिक्चर देखी, तो क्रिस्टफ़र प्लमर के वच्चों को अपने वाप के आतंक से थर्राते देख मुझे अपने वचपन के दिन दुवारा याद आ गए। दुर्भाग्य से, हमारी मां जूली एन्ड्रूज़ सी नायिका न थी, और अपने वच्चों को उनके पिता के स्वभाव को वदलना न सिखा पाई! अव जव मैं कभी वावू को याद करती हूं तो मुझे वचपन में उनसे इस दूरी पर गहरा अफ़सोस भी होता है। वे वेचारे चाहते थे कि उन्हें भी अपने वच्चों से वही प्यार या नज़दीकी का रिश्ता मिले जो हमारा दिद्दी के साथ था, लेकिन वो ये कभी न जान पाए कि शुरूआत कहां से और कैसे करें। उनकी चुप्पी उनकी निराशा का प्रतीक था, और उस औरत से हार का इज़हार जिसके ज़िंदादिल स्वभाव ने उनको उनके वच्चों का आदर तो दिलवा दिया, लेकिन अपना प्यार उन तक कभी न पहुंचाना सिखाया।

मुझे ख़ुशी सिर्फ़ इस वात की है कि वावू से हमारा वचपन वाला आतंक का रिश्ता वड़े होने पर वदल गया। जव दिद्दी और वे अकेले लखनऊ में रहने लगे, हम जव भी मायके जाते तो उनसे ख़ूब खुल के वातें होतीं। हमेशा की तरह, वे कम वोलते थे लेकिन उनको हमारे वच्चों के शोर-गुल से घर का भर जाना अच्छा लगता था। हमें कभी यक़ीन करना मुश्किल लगता था कि ये वही वावू हैं जो पायरी लॉज में वचपन में हमें सीढ़ियों पर ज़ोर से धम-धम करने से रोकते थे। लेकिन अव, जव हम दिद्दी-वावू को अपने ससुराल की वातें सुनाते

तो वो वहुत दिलचस्पी से हमारी वातें सुनते और उन लोगों की टीका-टिप्पणी पर हंस भी लेते। हमने दिद्दी-वावू के वीच ऐसी आत्मीयता पहले कभी न देखी थी, तो उनके इस नए रिश्ते से हमें कितनी ख़ुशी होती थी नहीं वता सकती। दिद्दी भी अव वावू की कितनी सेवा करती थी! जव उसे पता चला कि वावू को सिरोसिस की वीमारी हो गई है, दिद्दी ने रात-दिन एक कर दिए। उनकी वीमारी का सारा भार उसने अकेले संभाला और जव वे चल वसे, आमा की तरह उसने उनके अंतिम संस्कार का इंतज़ाम स्वयं निभाया।

अपने आख़री सालों में दिद्दी-वावू एक दूसरे के विना नहीं रह सकते थे। दिद्दी अव अपने कसून के परिवार के पास जाने को कभी न मचलती और वावू को उसके साहित्यिक जीवन में कितनी रुचि थी और उसके यश पर कितना गर्व, ये जानकर दिद्दी को वहुत ख़ुशी थी। जव उसके वच्चे उसके पास से चले गए, दिद्दी ने अपने को पूर्णत: वावू की सेवा में समर्पित कर दिया। उनके चले जाने के वाद, कई वार मुझे उसके वो लाल नाक लेकर घूमने वाले पुराने दिन याद कर लगता था कि क्या हमने उसे तव ग़लत समझा था? वो हमारे वच्चों को जव हमारे बचपन के दिनों की कहानियां सुनाती तो उसमें केवल हंसने वाले लतीफे होते, न उन यादों में कोई विपाद झलकता, न गुस्सा। एक वार, मृणाल की वेटी राधिका, नेत्रदान के काग़ज़ात लेकर दिद्दी के पास आई कि नानी तुम इस पर हस्ताक्षर कर दो कि जव मैं मरूं तो मेरी आंखें किसी और को दे दी जाएं। "चल हट," दिद्दी वोली। "जव मैं मरूंगी और ऊपर पहुंचूंगी तो कितने दिनों के वाद तो तेरे नाना से मिलूंगी। अगर तव आंखें न होंगी तो कहीं किसी ग़लत वुड्ढे के गले लटक गई तो क्या होगा?"

फिर अचानक, दिद्दी की एक वहुत पुरानी कहानी जिसे कभी छुटपन में पढ़ा था, मुझे याद आई। कहानी का नाम था "वंद घड़ी", और उसे दिद्दी ने लगभग चालीस साल पहले तव लिखा था जव हम प्रायरी लॉज में रहते थे। कहानी की नायिका, माया, मुझे हमेशा दिद्दी ही लगती थी। जव वहुत ढूंढ़ने पर भी मुझे कहानी न मिली, तो मैंने अपनी वहनों की मदद मांगी। एक दिन, वीनू ने दिद्दी के किसी पुराने कहानी-संग्रह से वो ढूंढ़ निकाली और मुझे उसकी

फोटोकॉपी देहरादून से भेज दी। मैंने तब तक ये अध्याय पूरा लिख लिया था लेकिन जब उस कहानी को दोबारा पढ़ा तो लगा उसके बिना ये अधूरा ही रह जाएगा, क्योंकि उसको पढ़कर प्रायरी लॉज और अपने बचपन के दिन इस तरह सजीव हो गए कि लगा कि दिद्दी ने भी बाबू से अपने रिश्ते की कहानी स्वयं लिखी थी। मुझे सबसे ज़्यादा खुशी इस बात से हुई कि मेरी यादें और दिद्दी का वर्णन कितना मेल खाता था। बाबू के मूड, उनके दौरे पर जाने पर हमारे घर का वातावरण दिद्दी ने कितनी सुंदरता से हमारे लिए इस कहानी में हमेशा याद करने के लिए रख छोड़ा था।

लिहाज़ा, जब तक मैं इस अध्याय को पूरा करने लगी, मुझे एक नए सत्य की जानकारी मिली। और वो ये कि दिद्दी का लेखक के रूप में जन्म हुआ बाबू के कारण। उसने शायद लिखना इसलिए शुरू किया था कि उसे अपनी कुंठा से मुक्ति पाने का यही सही तरीका लगा होगा, और अपने नए जीवन में अपने को खुश रखने का यही एक रास्ता। लेकिन जैसे-जैसे उसकी ख्याति बढ़ती चली गई, उसे इस बात ने डरा दिया कि कहीं वो बाबू से आगे न निकल जाए। यही कारण था कि वो उनको बिना दिखाए अपनी कोई कहानी या उपन्यास किसी प्रकाशक को न भेजती और अपने लेखक होने का ढिंढोरा नहीं पीटती थी। कहीं उसे ये मालूम था कि यदि बाबू ने उसको बांधकर न रखा होता, और उसकी आज़ादी पर रोक न लगाई होती तो दिद्दी भी, जयंती जेड़जा की तरह, एक प्यारी मौसी बनकर रह जाती, जो बच्चों को किस्से-कहानी सुनाने में माहिर होती पर लेखिका न बन पाती। बीनू से आमा ने कहा था: "तुम्हारी मां बहुत सिरचढ़ी थी, एक बिगड़ैल घोड़ी। एक शुकदेव जी ही थे जो उसे लगाम में बांध सकते थे।"

तभी, जब **1974** में बाबू चल बसे, दिद्दी कुछ दिनों तक अपने को संभाल न पाई। ज़िंदगी में पहली बार उसको दिशा दिखाने वाला कोई मर्द न था। उसे तब आभास हुआ कि बाबू का शांत स्वभाव उसके चंचल मन को साधने के लिए कितना अनिवार्य था। उसे बाबू ने एक बिदकती घोड़ी से एक ज़िम्मेदार मां व पत्नी का रूप दिया और उन्हीं के बनाए नियमों ने उसे व हमें एक संस्कारमय

संदर्भ। बाबू के निधन पर दिद्दी ने नवनीत में "बांधीश ना आर मायार डोरे" नाम का लेख लिखा जिसमें उसने बाबू के चरित्र की ऐसी सराहना की है कि पाठक उन्हें देवता माने। दिद्दी ने बहुत सी मार्मिक श्रद्धांजलियां लिखीं हैं, लेकिन इसका स्थान कुछ और ही है। मैंने यहां केवल उसका पहला अंश लिया है क्योंकि उसे आज तक मैं पूरा नहीं पढ़ पाती हूं। जब उसे इस पुस्तक के लिए मैंने दोबारा पढ़ा, मैं कई दिनों तक कुछ और न पढ़ पाई और मुझे एक ऐसा सत्य दिखाई देने लगा जिसे मैंने पहले कभी न देखा था। और वो ये कि अगर बाबू बाबू न होते, तो शायद दिद्दी भी दिद्दी न होती।

○

(बांधीश ना आर मायार डोरे से)

समझ में नहीं आता, कहां से आरंभ करूं! क्या चैन की उस स्निग्ध आलोकमयी संध्या से, जब पितृगृह की बुंदेलखंडी राजसी हवेली के द्वार पर झूमते हाथियों के साथ मेरी बरात खड़ी हुई थी, ड्योढ़ी पर आम्रपल्लवों के रंगीन पन्नी लगे तोरणलोलकों के नीचे अपने उल्लसित आबनूसी चेहरों को कंठ-माधुर्य से रससिक्त कर रही थीं रियासत की लोकप्रिय गवनारियां ईदिया और कोयल—'हाथ धनुष बन्ना ठाड़े री कोई जोड़ी तो मिला लो...'

कहां से आरंभ करूं? क्या उस स्पर्श से, जब पहली बार उन्होंने मेरा अंगूठा थामा था? या उस स्पर्श से, जब मृत्यु के एक दिनपूर्व गहन अंधकार में छल-बल से छिपाई गई, कंठ में ही घुटती जा रही मेरी सिसकियों का आभास पा, पार्श्व के पर्यंक से अपनी प्रलंब भुजा बढ़ा

मेरे कांपते हाथ को अपनी दुर्बल मुट्ठी में बांध मुझसे निशब्द विदा ली थी?

एक ओर हठीली लेखनी मचलती है, उस विस्मृत क्षण को लिपिबद्ध करने के लिए जब उत्सव और उत्साह के बीच, *किं गोत्रं, किं प्रवरस्य, किं वेदाध्यायिन:, किं शर्मण: पौत्रीं, किं शर्मण: प्रपौत्रीम्* आदि के सगर्व घोषित शंखोच्चार के साथ मैंने पतिगृह की मर्यादा को स्वीकारा था।

और दूसरी ओर क्रूर नियति मुझे लेखनी सहित यथार्थ के कठोर धरातल पर खींच, सती घाट की हिमशीतल सीढ़ियों पर बैठा देती है। आषाढ़ के प्रथम बादलों की वर्षा गंगातट की सिकता को सिंचित करने लगी है। वर्षा से भीगी धरती की ऐसी ही सौंधी महक ने कभी श्रीराम के वेदना-विधुर हृदय को झकझोरकर बिछुड़ी सीता को कल्पना में सजीव कर दिया था।

एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुंचति।।

धीरे-धीरे सीढ़ियां उतरती हूं, कटि तक डूबी मेरी अवश देह सहसा कांप उठती है। हाथ में तिलांजलि देकर पंडित हरीरामजी मेरे आहत हृदय में अपने गंभीर स्वर की पहली गोली दाग़ते हैं—चितादाहशमनार्थम्। उनके चितादाह-शमन की कामना के साथ ही मेरी भीगी देह को पंडितजी का स्वर जिस अदृश्य धधकती चिता पर धर देता है, उस दाह का शमन संसार की कौन तिलांजलि कर सकती है?

जो नाम प्राणों से प्रिय था, उसी के आगे निर्ममता से प्रयुक्त 'प्रेत' शब्द की कर्णकटु आवृत्ति कलेजे में छुरी की तीखी फाल बार-बार भीतर तक घोंपकर बड़ी निर्ममता से घुमा देती है। जल में अर्धनिमग्न किशोर पुत्र के पितृहीन चेहरे के उदास प्रतिबिंब को उसी के हाथ से छोड़ी गई तिलांजलि विचलित कर देती है। पंडितजी का स्वर एक बार फिर कानों में गर्म सीसा उड़ेल देता है, "उनकी नित्य व्यवहृत वस्तुओं को

भी यहीं प्रवाहित कर दीजिए..." एक-एक करके सारे स्मृति चिह्न मुझे विदा देते चले जाते हैं। गंगा की उठती-गिरती तरंगों में विवश तिनके सा बहता चश्मा पहनने वाले की करुण स्नेह-विगलित दृष्टि से ही मुझे विदा देने लगता है, तो आंखें फेर लेती हूं।

सम्मुख है हरिद्वार की विस्तृत शिवालिक श्रेणी, उसके पीछे शून्य क्षितिज और गंगावक्ष से उठती एक आर्त हाहाकार ध्वनि, जो बार-बार मेरी भीगी देह को झकझोरकर कहती चली जा रही है—कल तक तू राजमहिषी थी, आज है गतवैभवा, निर्धूतकेशा पथ की भिखारिन! विधाता किसी भी नारी को इससे बड़ा दंड और दे भी क्या सकता है?

○

बंद घड़ी

माया ने छाया जीजी के हरे पर्दे खिसकाकर देखा। दूर-दूर तक कोहरा फैल गया था। अंधेरे में चमकती छिपती रोशनियां, जुगनू सी दप-दप दमक रही थीं। गरजते मेघों का तर्जन सुनकर लगता था कि पानी बड़े वेग से बरसेगा। 'अभी तक जीजी हॉस्पिटल के राउंड से नहीं लौटीं। क्या पता किसी कमबख़्त को दर्द उठ आया हो? बच्चे कब के स्कूल से लौट आए होंगे।' झुंझलाकर माया ने छाता उठा लिया और जीजी के ख़ानसामे से बोली, "जीजी से कहना, मैं आई थी। बड़ी देर रुकी रही। कल फिर आऊंगी।" कोहरा चीरकर वह घर की ओर चल दी, 'कितनी अच्छी पिक्चर आई थीः 'लव इन दी आफ़्टरनून' और जीजी ने सब चौपट कर दिया—कल का दिन बीच में है, परसों

फिर मेरे पैरों में बेड़ियां पड़ जाएंगी। बुध को लौटेगा गिरीश। ख़ैर, कल सही—कल जीजी को फिर कोई निगोड़ी मरीज़ न बांध बैठे।'

घर पहुंची तो गोल कमरे की बत्ती जल रही थी। रानीखेत की हिमशीतल बयार और हृदय के आतंक ने उसे कंपा दिया—तो क्या लौट आए हैं? वह भीतर गई ही थी कि सोनिया भागती हुई उससे लिपट गई "ममी," वह फुसफुसाकर बोली, "पापा दौरे से लौट आए हैं, मूड बहुत ख़राब है। इत्ता ख़राब।" वह अपनी नन्ही सी बांहों को शून्य में फैलाकर पिता के भयंकर मूड का घनत्व बतलाने लगी। "बाई गॉड ममी, ड्राइवर से बोले, सूअर का बच्चा और..."

"अच्छा-अच्छा, बस कर।" माया ने झुंझलाकर उसे अपने से अलग कर कहा।

इसी बीच गुसलख़ाने का द्वार खुला। द्वार क्या खुला कि सर्कस के शेर का पिंजड़ा खुल गया, "अच्छा कहिए, घूम आईं! जानलेवा घाटियों पर जीप दौड़ाकर इंसान घर आता है तो एक प्याली चाय का ठिकाना नहीं—जाइए न, और घूम आइए।" गिरीश ने उसे क्रूर दृष्टि से चीरकर देखा।

अपनी शांत दृष्टि से पति का व्यंग्य और क्रोध झेलकर माया बोली, "घूमने नहीं, छाया जीजी के यहां गई थी।"

"बड़ी कृपा की।" गिरीश ने स्वर का बाण मारा और अख़बार उठाकर पढ़ने लगा।

डबडबाई आंखें पोंछकर माया चौके में जाने लगी तो 'ममी, ममी' कहता दो वर्ष का अतुल पैरों से लिपट गया। उसके पीछे कूदता-फांदता ऐल्सेशियन रौस्ट्री आ गया। उसकी कूदाफांदी से पीतल का फूलदान झनझनाकर गिरा। अख़बार हटाकर गिरीश ने एक लात रौस्ट्री को जड़ दी और गरजकर बोला, "भाग जा हरामज़ादे, दो मिनट तो कहीं शांति से बैठने को मिले।"

सहमकर क्षण भर में पूरा परिवार बिखर गया। आया आकर अतुल बाबा को ले गई, 'बाप रे बाप! साहब हैं या बम का गोला।' वह मन ही मन बुदबुदाई। माया ने चट गुसलख़ाने में जाकर द्वार बंद कर लिए। सहमी सोना अपनी होमवर्क की रफ़ कॉपी में भयंकर दैत्याकृतियां बनाकर लिखने लगी, "पापा इज़ ए डेविल।" "पापा भूत हैं।" "पापा इज़ ए बिग फ़ैट डेविल।" प्रतुल अपने मित्र के यहां अंग्रेज़ी गाने के रिकॉर्ड सुनने गया था, तंग मुहरे की पैंट की जेब में हाथ डालकर मस्तानी चाल से गुनगुनाता भीतर घुस आया, "लिपस्टिक ऑन योर कालर" गिरी मेज़ और बिखरे फूलदान को बिना देखे ही कंठस्वर तीव्रतर करता वह बढ़ता गया। सहसा कोने की कुर्सी पर पापा को देखा तो सांप सूंघ गया।

"अक्खाह, आइए प्रिंस ऑफ़ वेल्स।" व्यंग्य के तीखे स्वर में पापा बोले, "कहिए, कितनी पिक्चर देखी? यह लिपस्टिक वाला वाहियात गाना भी उसी पिक्चर का है क्या?"

"न पापा, यह तो बिनाका 'टॉप हिट' है।" रुआंसा सा होकर प्रतुल बोला।

"क्यों नहीं, क्यों नहीं! बाप साला हड्डियां तोड़कर पैसा कमाता है कि लाड़ले यही हिट सुनें। चल, ये ज़नानी चूड़ीदार सी पैंट बदलकर आ। बेशर्म ज़माना बोल रहा है, बाप के सामने बेहूदे गाने गाए जाते हैं। चल, हिसाब की कॉपी लेकर बैठ। इनकी उम्र में हमें चक्रवर्ती की अंकगणित जीभ की नोक पर थी, पर इनसे पूछिए सोलह का पहाड़ा, तो साफ़। हरामी स्कूल के मास्टर और दो अंगुल बढ़कर ये छोकरे।" सहमकर प्रतुल पैंट बदलने चला गया।

गिरीशचंद्र शर्मा अपने विभाग का सबसे सम्मानित एवं ख्याति प्राप्त इंजीनियर था। दुर्गम पहाड़ों के वक्ष चीरकर नई-नई मोटर रोड बनाने का भार इसी से उसे सौंपा गया था, किंतु लोहे का पुल और

बड़े-बड़े पहाड़ डायनामाइट से उड़ाकर चौड़ी सुगम सड़क बनाने की प्रणाली वह अपने व्यक्तिगत जीवन में भी खींचकर लाना चाहता था। कठोर अनुशासन ममता और वात्सल्य की डोर को चतुर चूहे की भांति भीतर ही भीतर कुतरे जा रहा था, इसका उसे ध्यान ही नहीं था। इसी से वह दौरे पर जाता तो घर में शहनाइयां बजने लगतीं। अत्ती को आया को सौंप माया जीजी के यहां चली जाती। घंटों दोनों बहनें गप लड़ातीं और दिन डूबे माया घर लौट आती तो सोचती, 'हाय, छाया जीजी कितनी सुखी हैं! न बच्चों की चें-पें, न पति की झिड़कियां। काश, मैं छाया जीजी होती!' और छाया सोचती, 'हाय, माया कितनी सुखी है! फूल से बच्चे और कार्तिकेय का सा सुंदर पति। काश, मैं माया होती!' छाया थी सांवली, देखने में अति सामान्य किंतु पढ़ने में प्रखरबुद्धि। इसी से वह बन गई डॉक्टर और माया थी सुंदरी, भावुक, शरीर और मन दोनों से दुर्बल। सिविल सर्जन पिता की लड़ैती पुत्रियां बड़े दुलार में पलकर बड़ी हुई थीं। माया नाज़ुक और छोटी होने के कारण पिता के बहुत मुंह लगी थी, इसी से बड़े यत्न से उसके लिए वर चयन किया गया था।

गिरीश रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज का मेधावी छात्र था। लाखों में एक जानकर ही उसके संपन्न श्वसुर ने उसे चुना है, यह वह जानता था। किंतु उनका धन-वैभव उसके व्यक्तित्व को मोल-तोल की डोर में कभी नहीं बांध सकेगा, यह उसने एक प्रकार से स्पष्ट कर दिया। दोनों का व्यक्तित्व नहले पर दहला था। झड़प होती तो माया और गिरीश सांप और नेवले की भांति आमने-सामने खड़े हो जाते। जय-पराजय का लेखा कब किसके पल्ले रहा, कोई जान भी न पाता। माया थी भावुक। गिरीश को भावुकता से चिढ़ थी। माया को शोख़ रंग की साड़ियां पसंद थीं। कभी-कभी लिपस्टिक भी लगा लेती, तो गिरीश कहता, "चूहा मारकर ख़ून लगा लो न होंठों पर, और अच्छी

लगोगी।" माया जल-भुनकर रह जाती। माया को रोस्ट चिकन चिंचोड़ने में स्वर्गीय आनंद आता और गिरीश को गोश्त देखकर उबकाइयां आती थीं।

छाया जीजी कभी बड़ी चेष्टा और चातुर्य से छोटी बहन से बातें उगलवा लेतीं, "हद है यह गिरीश! अजब क़साई है, गोया बाप नहीं हौआ हो गया है! कल ही कहूंगी मैं।" वह कहतीं, पर मन ही मन वह स्वयं उस मान-मुनव्वल के लिए तरसकर रह जातीं। कैसे अमूल्य होते होंगे वे मान-अभिमान के मधुर क्षण! वह रूठना, वह मनाना उसके जीवन में आकाश-कुसुम चयन सम रहेंगे।

उधर गिरीश उनसे मन ही मन चिढ़ उठा। जब से छाया की बदली रानीखेत को हो गई, माया एकदम ही पराई सी हो गई थी। पति-पत्नी में बोलचाल 'हां-हूं' तक ही सीमित थी। निरंकुश स्वेच्छाचारी सम्राट की भांति गिरीश ने शासन की बागडोर, अव्यवस्था के भय से और कड़ी कर दी। खाने की मेज़ पर सब किलकते, पर गिरीश के आते ही अनुशासन का कठोर मेघ सा छा जाता। यंत्रवत कौर निगलकर सब चुपचाप उठ जाते। मेज़ पर लगे क़हक़हे, चुहलबाज़ियां जैसे सब भूल गए। ममी और पापा के सामान्य से झगड़े ने भीषण रूप धारण कर लिया। नन्हे मासूम भोले चेहरे बेरौनक हो गए, जैसे दुकान पर सजे बहुत पुराने खिलौने हों। घर की झुंझलाहट बाहर निकलने लगी। मेमसाहब महरी और आया से बेमतलब उलझने लगीं, उधर दफ़्तर के हेडक्लर्क और चपरासियों पर साहब ज़रा-ज़रा सी बात पर बरसने लगे। एक तो मार्च का महीना, बिलों और फ़ाइलों का अंबार, उधर पत्नी और बच्चे मोर्चा बांधकर अलग हो गए। ममी और पापा के झगड़े में बच्चों की सहानुभूति ममी के साथ देख गिरीश जल-भुन बैठा। उसने अत्याचारों की झड़ी लगा दी। परांठे बनते तो फुलके मांगता। पहले मूंग की दाल से कोसों दूर भागता, अब दिन-रात मूंग की दाल

की फ़रमाइश होती। खाकर झनाक से थाली पटक देता, कभी झनक से गिलास! उधर क्रोध और झुंझलाहट से भरी माया चौके से ही चिमटे और संड़सी का जलतरंग बजाकर प्रत्युत्तर देती। ऐसी बाढ़ आ गई, जिसका कूल-किनारा नज़र नहीं आता था। लगता था, क्रोध की नदी हरी-भरी गृहस्थी को निगलकर ही मानेगी।

एक दिन माया हल्दी की पुड़िया खोलकर संभाल रही थी कि पुड़िया के कागज़ पर दृष्टि दौड़ गई। फटे अख़बार का पृष्ठ थाः "बीस वर्षीया स्त्री की दुखद मृत्यु। घर के झगड़े से ऊबकर बीस वर्षीया मिसेज़ खेर ने कल मिट्टी का तेल डालकर आत्महत्या कर ली।" डूबते को तिनका मिला। क्षण भर की यातना और वह सदा के लिए मुक्त हो जाएगी। आज ही वह यह संकल्प पूरा करेगी। माया की आंखें चमक उठीं। ख़ूब सबक़ मिलेगा बच्चू को! अक्ल ठिकाने आ जाएगी। ज़रा रख तो लें धोबी और दूध का हिसाब! चला तो लें घरख़र्चा, जान लेंगे बच्चू कि कै बीसी सैकड़ा होते हैं! एक रात अतुल बीमार पड़ जाए तो छठी का दूध याद आ जाएगा! पर सहसा मातृहीन अतुल की काल्पनिक बीमारी की आशंका ने पति के प्रति प्रतिहिंसा की ज्वाला पर ठंडा पानी गिरा दिया। मां के गले का हार पकड़े बिना अतुल दूध की बोतल मुंह में नहीं लेता। एक दिन उसे छाया के यहां से लौटने में देर हो गई थी, तो 'ममी-ममी' चीख़कर उसे बुख़ार हो आया था। सोनिया को स्कूल जाने से पूर्व, मां से लिपटकर नित्य पैसे वसूल करने की कुटेव है। और उसके सौ-सौ लाड़ों का लड़ाया प्रतुल। महीने में दस अंग्रेज़ी कॉमिक पढ़े बिना उसे पेचिश हो जाती है। घर के डेफ़िसिट बजट को खींच-खींचकर उसके पेचिश की दवा भी माया को ही जुटानी होती है। स्वयं गिरीश! कितना ही गरजे और तरजे, पर माया के बिना मणिहारा सर्प सा व्याकुल हो उठता है सो?

हुं, जाएं भाड़ में सब! मान-अभिमान से माया की छाती फूल

उठी। अपनी काल्पनिक मृत्यु पर स्वयं ही उसकी रुलाई फूट पड़ी। सोनिया लौटेगी तो देखेगी नित्य की भांति ममी चाय की मेज़ पर नाश्ता सजाए खड़ी नहीं है। बड़ी सी चादर से उसकी लाश ढक दी गई है। अपराधी गिरीश विषाद से काला चेहरा लिए कुर्सी पर स्तब्ध बैठा है। अतुल आकर मां की लाश से चिपटकर कहता है, 'ममी, उतो।' तभी अपने को रोक नहीं सकता गिरीश! बुक़्क़ा फाड़कर रो उठता है, 'माया इतनी बड़ी सज़ा क्यों दे गई?'

परम संतोष से माया ने मिट्टी के तेल की बोतल पकड़ ली। सहसा माया को याद आया, छाया जीजी ने उसे नई ऑलिवग्रीन साड़ी लेकर दी। एक दिन भी तो नहीं पहनी उसने! क्यों न आज अंतिम बार पहन ले? माया ने मुंह धोया, नई साड़ी पहनी, जूड़ा बनाया, सफ़ेद माथे पर बड़े जतन से बिंदी धरी और अंतिम बार शहीद की करुण दृष्टि से अपना मोहक प्रतिबिंब आईने में देखा। एक बार, केवल एक बार अतुल को देखने की इच्छा बलवती हो उठी। धीरे-धीरे वह दबे पैरों से गोल कमरे तक गई। अकेला बैठा अत्ती बूटपॉलिश की डिबिया को फ़र्श पर लुढ़का रहा था और भाग-भागकर मुंह में दबाकर रौस्ट्री उसे फिर-फिर नन्हे मालिक के चरणों पर रख रहा था। दोनों हाथों से तालियां बजाकर, किलकारियां मारता अतुल फिर उसे पहिए की भांति लुढ़का दे रहा था। पुत्र की क्रीड़ारत छवि को डबडबाई आंखों में भरकर माया देहरी से ही लौट आई। घड़ी में दो बजे थे। तीन बजे बच्चे लौट आएंगे। इससे पहले ही मन पक्का कर मुक्ति पा लेनी होगी उसे। मिट्टी के तेल की बोतल और दियासलाई लेकर वह गुसलख़ाने में घुसने को ही थी कि सहसा स्मरण हो आया, प्रतुल सुबह कह गया था, 'ममी, मेरी सफ़ेद क़मीज़ में बटन टांक देना, मुझे डिबेट में जाना है।' झुंझलाकर बाहर निकली और क़मीज़ निकालकर बटन टांकने बैठ गई। कभी याद करेगा, ममी के हाथ का टंका आख़री बटन। बेसमझ

आंखें फिर बरसने लगीं। अतुल की किलकारियां और नन्ही सी हथेली की तालियां उसके हृदय पर घन की सी चोटें कर रही थीं। पर अब नहीं रुकेगी वह, बाथरूम में घुसकर कुंडी चढ़ाएगी, और...

पर क्या इतनी सुंदर ऑलिवग्रीन कांजीवरम पर मिट्टी का तेल छिड़कना बुद्धिमानी होगी? क्यों न कोई फटी सी इकलाई पहन ले। 'इसे कभी सोनिया पहनेगी।' एक लंबी सांस खींचकर उसने सोचा। वह सोच ही रही थी कि गिरीश का स्वर आया, "अरे दुष्ट, यह क्या लंगूर सी शक्ल बना ली है? ओ हो हो हो!" और पति का वही चिर-परिचित उन्मुक्त हास्य जिसे वह प्रायः भूल ही गई थी। स्नेहमयी वात्सल्यपूर्ण झिड़की ही थी, क्रोध का लेश भी न था उसमें, "हत् तेरी नानी की दुम! क्या चेहरा बना लिया है रे भूत!"

"क्या किया, पापा?" सोनिया और प्रतुल का स्वर था, साथ ही पिता और बालकों का सम्मिलित राशिभूत अट्टहास! चट मिट्टी के तेल की बोतल कोने में पटक वह बाहर निकल आई। घड़ी में अब भी दो ही बजे थे। सर्वनाश! तो क्या घड़ी बंद थी? कान के पास घड़ी ले जाकर देखा तो सचमुच घड़ी बंद थी। चाय का पानी भी तो नहीं चढ़ाया था उसने! इतने में ही अतुल को कंधे पर बिठाकर गिरीश आ गया। उसके पीछे प्रतुल, सोनिया और सबके पीछे दुम हिला-हिलाकर नन्हे मालिक के अनुपम कला-चातुर्य की दाद देता रौस्ट्री!

बादलों को चीरकर जैसे सहसा तरुण चंद्र की धौत चंद्रिका म्लान वनवनांत को रंग जाती है, ऐसे ही पुत्र को देख मधुर हास्य से माया का वेदना-विकीर्ण म्लान मुखमंडल उज्ज्वल हो उठा। पति के कंधे पर बंदर का सा चेहरा बनाए श्री अतुलचंद्र शर्मा विराजमान थे—बूटपॉलिश की काली डिबिया से उन्होंने अपने चंद्रमुख को नाना आकार के त्रिपुंडों से शोभित कर लिया था और अपने दो दांतों की अनुपम छटा बिखेरते फक से मुस्करा रहे थे। पति की ओर देखकर माया ने आंखों ही

आंखों में संधिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। माया को देखकर अतुल उसकी गोद में आने को मचलने लगा। बांहें फैलाकर माया उसे लेने लगी तो पति के कंधे से उसका हाथ छू गया। बच्चों की दृष्टि बचाकर गिरीश ने उसकी बांह में चिमटी काट दी। 'उफ़,' माया ने स्नेहपूर्ण कटाक्ष से गिरीश की ओर देखकर अतुल को गोद में ले लिया और मन ही मन सोचने लगी, 'कैसी नासमझ हैं छाया जीजी! कहती थीं, तेरा पति क़साई है—क़साई भला ऐसी स्नेहभीनी हरकतें कर सकता है!'

"देख तो सोनी, घड़ी में क्या बजा है, सवा चार बजे मुझे एक मीटिंग में जाना है।" गिरीश ने कहा।

भागकर सोनिया घड़ी देख आई, "हाय पापा, कैसी कनस्तर घड़ी है, जब देखो तब बंद! उसमें तो दो ही बजा है। यह देखिए।" सच घड़ी में अब भी दो ही बजे थे।

माया ने कृतज्ञता-कातर दृष्टि से बंद घड़ी को देखा। उसे लगा जैसे उस बंद निर्जीव घड़ी से सुंदर अन्य कोई वस्तु संसार में हो ही नहीं सकती।

5

प्रायरी लॉज

हमारे भाई मिकी, का जन्म **1954** में कसून वाले घर में हुआ था। हालांकि मैं तब केवल तीन ही वर्ष की थी मुझे अच्छी तरह याद है कि हमारे घर में पुत्र के आगमन से आमा के परिवार में कितनी ख़ुशी फैली थी। मिकी दोपहर के बाद पैदा हुआ था और तारा दीदी ने मेरी पीठ पर एक गुड़ की भेली फोड़ी कि इस पीठ के पीछे बेटा पैदा हुआ, और एक बकरे का कान ऐंठ के उससे "हंसने की आवाज़" निकलवाई थी। आमा ने अपनी पूजा में ज़ोर से शंख बजा के अपने ठाकुरजी का अभिनंदन किया और इसी निनाद के साथ, मिकी हमारे परिवार का सबसे दुलारा बच्चा भी घोषित हो गया। कुछ ही महीने बाद, बाबू का तबादला लखनऊ हो गया और हम पहाड़ छोड़ के अब 'देश' चले गए। कसून की दुनिया छोड़ कहीं और रहने का यह मेरे जीवनकाल का पहला अवसर था।

उस समय के लखनऊ की मुझे थोड़ी बहुत याद है—हम रिवर बैंक कॉलोनी के एक छोटे से फ़्लैट में रहते थे, जिसकी बालकनी से हमें बेलीगारद के खंडहर दिखाई देते थे। गर्मियों में हम छत पर खाट लगा के सोते थे। लखनऊ आए हमें शायद एक साल भी न हुआ था जब बाबू को सरकार ने किसी कोर्स के लिए एक साल के लिए कनाडा भेज दिया और शादी के बाद दिद्दी को पहली बार बिना अपने मायके के या बाबू के, अकेले जीवन व्यतीत करने का अवसर मिला। लगभग इसी समय से दिद्दी ने नियमित रूप से लिखना शुरू किया और

अपने लिए एक उपनाम—शिवानी—चुना, क्योंकि वो उसके अपने नाम—गौरा—का ही पर्यायवाची शब्द था। अब वो अक्सर ऑल इंडिया रेडियो में प्रोग्राम पेश करने लगी: कभी वार्ता, कभी कोई नाटक। बीनू को भातखंडे अकादमी में संगीत सीखने भेजा गया, मीनू ने भरतनाट्यम सीखना शुरू किया और मैंने ला मार्टनियर स्कूल फ़ॉर गर्ल्स में पढ़ना शुरू कर दिया। दिद्दी को इस बात से बहुत संतोष मिला कि हम तीनों ने अपने-अपने नए वातावरण में ख़ूब नाम कमाया। बीनू का गला बहुत मधुर था और कई बार उसे रेडियो पर बच्चों के कार्यक्रम में भाग लेने बुलाया जाता। मीनू पढ़ाई में और नृत्य में निपुण थी और मुझे भी स्कूल में कई इनाम मिले। तो उस एक साल में, जब बाबू विदेश रहे, दिद्दी ने अपने बच्चों को ऐसे जीवन से अवगत करवा दिया जो रोज़ के स्कूल व पारिवारिक जीवन से कोसों दूर था। इससे हम तीनों को बाद में कितना आनंद मिला वो कभी फिर बताऊंगी।

रिवर बैंक कॉलोनी एक अर्ध-चंद्राकार घेरा था जिसमें कोई **36** फ़्लैट थे। **36** परिवारों के इतने समीप रहने का ये हमारा पहला अनुभव था और हमने जल्दी से इस नए रहने के स्टाइल को अपना लिया। अल्मोड़े में अपने सुनसान व एकांत कैंटूनमेंट वाले घर के बाद इसमें कितना आनंद आता था कि अब हमारे पड़ोसी न हमारे रिश्तेदार थे न संबंधी, केवल मित्र! हमारे फ़्लैट की बाईं ओर वाले फ़्लैट में तीन युवतियां रहतीं थीं— लीला ख़ज़ानचंद, लीला जोसेफ़ और सुषमी मैथ्यूज़। लीला ख़ज़ानचंद के पिता डॉ. ख़ज़ानचंद अल्मोड़े में हमारे परिवार के डॉक्टर रह चुके थे और बाद में वे भवाली के प्रसिद्ध सैनिटोरियम के निर्देशक बने। लीला जोसेफ़ महिला कॉलेज में पढ़ातीं थीं और सुषमी मैथ्यूज़ सेंट्रल ड्रग रिसर्च इंस्टीट्यूट में वरिष्ठ वैज्ञानिक थीं। उन्होंने हमारे भाई का नाम मिकी रखा और लखनऊ को छोड़ने के कई सालों तक हम लोग उन तीनों से पत्र लिख के संपर्क रखते थे। उनके फ़्लैट में हमेशा लोगों की आवत-जावत और चहल-पहल लगी रहती और मुझे वहां सुनहरी मछलियों के अक्वेरियम की अभी तक याद है। हमारे दूसरी तरफ़ रहता था चतुर्वेदी परिवार, जिनके बहुत सारे बेटे थे और जहां तक मुझे याद है, सब के सब डॉक्टर थे। उनकी एक

बूढ़ी मां भी थीं जिन्हें हम सब चाची के नाम से जानते थे। इस तरफ़ के एक डॉक्टर को उस तरफ़ वाले फ़्लैट की एक युवती से प्रेम हो गया और चाची दुख से विह्वल हो गईं कि कहीं उनका विशुद्ध ब्राह्मण परिवार किसी किरिस्तान लड़की के कारण म्लेच्छ न बन जाए! ऊपर की मंज़िल में कोई रोज़ सितार का रियाज़ करता था और दिद्दी ने उस परिवार का नाम "ड-ड-ड्याऊं" रख दिया था, क्योंकि उस फूहड़ सितार वादक का रियाज़ हमें ऐसा ही सुनाई देता था। रिवर बैंक की चहल-पहल से दिद्दी को न जाने कितने कहानियों के प्लॉट मिले और सालों तक हमें उसके उपन्यासों में वहां का कोई पात्र या क़िस्सा दिखाई देता था।

1958 में, बाबू की बदली नैनीताल हो गई और चार साल के "देश" में प्रवास के बाद, हमारे परिवार का एक बार फिर कुमाऊं लौटना हुआ। हमारे नए घर का नाम था प्रायरी लॉज, और उसमें इतने कमरे थे कि शायद किसी ने कभी उनकी गिनती तक न की थी। घर के एक भाग में हम रहते थे और बाक़ी में था बाबू का दफ़्तर, जिसमें से आती थी पुरानी फ़ाइलों, सिगड़ियों से उठती कोयले के धुएं की, और क्लर्कों की बीड़ियों की बास। दिद्दी ने कहीं से पता लगाया कि किसी ज़माने में ये घर अंग्रेज़ों का एक क्लब हुआ करता था और उसमें लगी आग से एक मेम और उसका ख़ानसामा जल के मर गए थे, अब उनका भूत घर में विचरता था और उसे कई बार घर के नौकरों ने देखा भी था। हमने उस भूत का नाम "मिस पेरी" रख दिया था क्योंकि मिकी के स्कूल में इसी नाम की एक जल्लाद टीचर थी जो बच्चों को संटी से मारती थी। प्रायरी लॉज आयरपाटा के घने जंगल वाले इलाक़े में स्थित था जहां कभी जिम कॉर्बेट रहा करते थे। उनका पुराना घर, गर्नी हाउस, हमारे घर के पास एक क़ब्रिस्तान के समीप था। उस एकांत, शांत जगह से मुझे बेहद लगाव था और हर शनिवार की दोपहर को मैं वहां झाड़ू लगाने पहुंच जाती। क़ब्रों को मेरा पोंछ-पाछ के उनपे फूल सजाना दिद्दी को बहुत मज़ेदार लगता था। वहां अनुभव की गई उदासी मुझे अभी भी याद आती है—क़ब्रों की शिलाओं पर दिवंगत आत्मा की याद में एक दुखभरा वाक्य लिखा होता था। किसी क़ब्र

में था कोई नन्हा बच्चा जिसने शिशुकाल में ही दम तोड़ दिया, किसी में कोई युवा सिपाही जिसे हिंदुस्तान की गर्मी ने मार डाला, और एक कोने में था एक मिशनरी परिवार की क़ब्रों का समूह जिसका सारा कुनबा साथ दफ़नाया गया था। वे कौन होंगे, कैसे और कहां रहते होंगे, इन सवालों पर मैं घंटों चिंतन करती थी।

हमारे घर के चारों ओर उत्तर प्रदेश के विभिन्न रजवाड़ों के घर थे, और दिद्दी को अपने बचपन की यादें ताज़ा करने का मौक़ा मिल गया। उसने इस समय में जितनी भी कहानियां या उपन्यास लिखे हैं सबमें इस जीवन की झलक मिलती है। देश को आज़ाद हुए कोई दस-पंद्रह साल ही हुए थे और उस ज़माने में गर्मियों में नैनीताल जैसे कई हिल स्टेशन थे जहां का जीवन बहुत रंगीन था। इन घरों के नाम भी अनोखे थे: स्ट्रॉबेरी लॉज, वियेना लॉज, द हाईव, एलस्मेयर, द रिट्रीट और फ़र्न कॉटेज। साल भर ये बंद रहते और फिर, मई में—जब शहर का 'सीज़न' शुरू होता—इनमें रहने वाले भड़कीले परिवार देश की भयंकर गर्मी के प्रकोप से बचने यहां पधारते।

वियेना लॉज में धामपुर की राजमाता रहती थीं और उनके साथी थे उनकी 'कम्पैनियन' मिस ब्राउन और उनके निजी सचिव, मिस्टर जोशी। तीनों ब्रिटिश राज पर बनी किसी फिल्म के पात्र लगते थे। दिद्दी की उनसे दोस्ती हो गई और हम कभी राजमाता की लाइब्रेरी से किताबें मांग के अपने घर लाते। हमको पढ़ने का शौक़ है जान के एक बार मिस्टर जोशी ने मुझे समरसेट मौम की कहानियों का संग्रह भेंट किया था और मेरे भाई को—जो चित्र बनाता था—ऑइल पेंट का एक बेहद ख़ूबसूरत सेट। उनके घर के नीचे, उसी पहाड़ी पर थी एक राणा परिवार की कोठी, द रिट्रीट, जहां हर साल राणा जी का परिवार नेपाल से नैनीताल भ्रमण करने आता। सुबह तो घर को एक चुप्पी घेरे रहती, लेकिन दोपहर के बाद वहां की छटा ही निराली होती। राणा जी नशे से तब उठते होंगे और उनकी छ्योड़ियां, तितलियों की तरह, उनके इर्द-गिर्द घूमतीं। कोई उनकी मालिश करती, कोई उन्हें पंखा झलती और कोई उन्हें चांदी के थाल से नाश्ता खिलाती। इस ड्रामे को हम अपने घर के बरामदे से बेहद

निर्लज्जता से देखते और उसपे आपस में हंसते। प्रायरी लॉज के ठीक ऊपर थी फर्न कॉटेज, जिसमें रहता था एक ख़ूंख़ार सरदार परिवार। हम उन्हें टिक्का राजा के नाम से जानते थे और उनकी एक आदत से हमें वेहद हंसी आती थी। राजा साहब का मुंह हर समय अजीव तरह से चलता रहता और एक वार जव वे हमारे घर दिद्दी-वावू से मिलने आए, तो हम बच्चों को उनसे मिलने वैठक में वुलवाया गया। उनका विकृत मुंह देखते ही हम सवको हंसी का ऐसा दौरा पड़ा कि आंखों से आंसू निकलने की नौवत आ गई। "कितनी सोणी वेटियां हैं, कितनी हंसमुख!" वे दिद्दी से वोले, "साड्डे मुंडे ते हंसते नहीं।" कौन उन्हें वताता कि वेटियों की हंसी के पीछे क्या राज़ था!

हर शाम, हमारे ये रंगीले पड़ोसी दामी कपड़े-ज़ेवर पहने अपनी-अपनी डांडियों में सेंट की ख़ुशबू के गुवार छोड़ते हुए, वोट हाउस क्लव को चल देते। वहां शराव की चुस्कियों के वीच चलते ताश और नाचने के दौर। देर रात, नशे में चूर, उनकी सवारियां अपने शिविर लौटतीं। हमें ये ज़िंदगी वेहद ग्लैमरस लगती थी और कई वार मन करता कि हम भी कभी ऐसे ही सज-धज के कहीं घूमने जाते। लेकिन हमको मालूम था कि हम इन लोगों से फ़र्क थे—वावू को क्लव की अय्याशी से घोर चिढ़ थी और हमको नीचे "फ़्लैट्स" जाने की अनुमति हफ़्ते में केवल एक वार मिलती। तो जव सारा शहर सीज़न का आनंद उठाता, हम अपने घर में वैठकर अपना होमवर्क करते और ताल के किनारे से आती वैंड की मादक आवाज़ को दूर से ही सुन के संतोष कर लेते। वावू का आदेश तोड़ने की हिम्मत किसी में न थी।

इसी वीच, हमारी वड़ी मौसी जयंती के दोनों पुत्र, पुष्पेश और मुक्तेश, हमारे पास आके रहने लगे। आज तक, हम सवका मानना है कि नैनीताल में साथ विताया वह समय हम सवके जीवन के सवसे मज़ेदार दिन थे। दिद्दी भी आमा की तरह घर का कामकाज नौकरों पर छोड़ देती थी। हालांकि वावू को यह क़तई पसंद न था, उसका ज़्यादा समय लिखने-पढ़ने और हमको पढ़ाने में वीतता। शाम को वो अक्सर हमें अपनी कहानियां पढ़कर सुनाती। वावू के दफ़्तर में कई पुराने गैज़ेट और पत्रिकाएं भी थीं। हम सव किताबी कीड़े थे

क्योंकि और कुछ करने को न था, हमने उनको चाट-चाट के पढ़ना शुरू कर दिया। दिद्दी की छत्रछाया में हमने कई छोटे-मोटे नाटक, घरेलू पत्रिकाएं भी निकालना शुरू किया और धीरे-धीरे, हमारा घर पड़ोस के बच्चों के लिए एक सांस्कृतिक केंद्र बन गया। कसून, आमा और उनका परिवार अब धीरे-धीरे हम भूलने लगे, और हालांकि नैनीताल और अल्मोड़े के बीच महज़ डेढ़ ही घंटे का फ़ासला है, हम कभी नैनीताल से अल्मोड़ा नहीं गए।

उस समय की मेरी सबसे तीव्र याद है हमारे घर में पैसों के अभाव की। दिद्दी के पास केवल कुछ ही साड़ियां थीं—दो-तीन घर पहनने की और उतनी ही बाहर जाने की। हमारे पास होते थे केवल दो जोड़ी स्कूल के कपड़े और दो-तीन बाहर जाने के कपड़े। हम स्कूल में पुरानी किताबों से पढ़ते और किसी को बाबू से नए जूते मांगने की हिम्मत तब तक न होती जब तक पुराने वाले बिल्कुल फट न जाते। मेरी अधिकांश किताबें किसी से मांगी होतीं और उनमें भद्दे चित्र या किसी और के लिखे नोट्स होते। मैं उन्हें किसी तरह साफ़ कंवर चढ़ा के नया बनाने की कोशिश करती लेकिन अंदर की हालत काफ़ी ख़स्ता होती थी। उस समय का एक हादसा अभी तक मुझे हंसाने लगता है। हमारी हिंदी की पुस्तक में सुमित्रानंदन पंत की एक कविता थी। जिसने मुझे वो पुस्तक दी थी उसने बड़े प्रेम से बेचारे कविवर को पुरुष से नारी बना दिया था। उनके माथे पर थी बिंदी, कान में कुंडल, और उनकी लटों को और भी घुंघराला बनाकर सिर को पल्ले से ढांक के ऐसा बना दिया था कि कोई उन्हें पहचान न पाए। मेरे स्कूल में हिंदी की टीचर, मिस सूद को पता था कि मेरी मां शिवानी के नाम से लिखतीं हैं, इसलिए एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा, 'क्यों इरा, क्या सुमित्रानंदन पंत से तम्हारा कोई रिश्ता है?' मैं ये तो जानती थी कि हर पंत, पांडे या जोशी का कोई न कोई रिश्ता होता है, तो मैंने कविवर की तस्वीर याद करते हुए बड़ी शान से कहा, 'यस, शी इज़ माय आंट।'—वो मेरी मौसी हैं।

जब दिद्दी को मैंने ये कहानी सुनाई तो वो खिलखिला के हंस पड़ी । उसके बाद, जो भी हमारे घर आता, दिद्दी मुझसे ये कहानी उन्हें सुनवाती। मुझे नकल उतारने में मज़ा आने लगा और जब कहानी के अंत में श्रोता लोग

हंसते, तो मुझे बहुत गर्व भी होता। अब लगता है, कि इससे मुझे दिद्दी ने कितना बड़ा सबक सिखाया: कि जीवन में अपनी ग़लतियों पर हंसना कितना आवश्यक है, और पैसों की कमी पर शर्म न महसूस करना कितना अनिवार्य। अपने स्कूल के या पड़ोस के धनी परिवारों को देखकर हमें कभी अपने जीवन में पैसों के अभाव से कभी शर्म नहीं आई। दिद्दी से सीखा ये सबक मैं आज तक नहीं भूली हूं।

हमारे चारों ओर बहुत धनी परिवार रहते थे। हम उनका रहन-सहन देखते लेकिन कभी हमें ये न लगा कि उनकी तुलना में हमारे जीवन में किसी तरह का अभाव है। बल्कि क्योंकि हम सब पढ़ने में बहुत अच्छे थे, हमें उन बेचारों पर दया आती जिनके पास पैसों के अलावा कुछ और न था, और जिनके मां-बाप अमीर तो थे लेकिन उनके पास हमारी तरह हंसने-हंसाने वाला परिवार न था। न उनके घरों में मिस पेरी या कोई भूत आता और न ही उनकी मां हमारी मां की तरह लेखिका थी। दिद्दी से पढ़ने पड़ोस के सब बच्चे आ जाते थे क्योंकि उसे पढ़ाने का शौक़ था और उसके पढ़ाने का ढंग भी अनोखा था। रोज़ शाम को दिद्दी हमारा होमवर्क करवाने हमारे साथ बैठती और कभी सूत्र बनाकर कभी कहानी सुनाकर हमें सबक याद करवाती। उसे कहानी कहने का ऐसा वरदान था कि उससे सुनी कहानियां हम जीवन भर न भूल पाए। बाद तक, जब वो हमारे पास आती थी, तो हमारे बच्चे उससे कहानियां सुनते न थकते। यही नहीं, वे साल भर के निबंध दिद्दी से लिखवा लेते थे। एक बार गर्मी की छुट्टी में, मृणाल की बेटी रोहिणी को एक निबंध लिखने को मिला था, शीर्षक था: 'एक कौए की आत्मकथा'। दिद्दी ने उसे सुझाया कि वो उसे कुछ ऐसे लिखे कि कौए का बच्चा असल में एक कोयल का बच्चा था जिसे उसकी मां ने कौए के घोंसले में डाल दिया था। जहां तक मुझे याद है, रोहिणी को इस निबंध के लिए पुरस्कार भी मिला। बचपन में, दिद्दी हमारा सारा होमवर्क करवाती थी। केवल गणित हम बाबू से सीखते, और डर के मारे हमारी जान निकली रहती थी, जबकि बाबू न कभी आवाज़ उठाते, न दिद्दी की तरह उन्होंने हमें कभी थप्पड़ जड़ा, लेकिन हम उनसे इतना घबराते थे कि आसान से आसान

सवाल करते समय मुझे मानो लकुवा पड़ जाता।

हम वच्चों का कमरा एक विशाल हॉलनुमा कमरा था, जिसमें छह पलंगों पर हम भाई-वहन सोते। देर रात तक हम दवी आवाज़ में आपस में किस्से कहानी कहते और वातें करते। ठंड में वार-वार जव गुसलखाने जाना होता, तो डर के मारे हमारी जान निकल जाती थी क्योंकि गुसलखाने तक जाने के लिए घर के उस हिस्से को पार करना पड़ता था जहां 'मिस पेरी' का भूत मंडराता था। इसलिए जैसे ही एक वच्चा उठता, हम सव उसके पीछे लग लेते कि वाद में अकेले न जाना पड़े। पुष्पेश ने इस मुसीवत से निवटने के लिए एक विशेष मंत्र वनाया और उसका कहना था कि अगर इस मंत्र का जाप करो तो किसी को कोई भूत नहीं लग सकता। तो हर रात, हम छह के छह पुष्पेश के पीछे गुसलखाने को एक कतार में इस मंत्र को जपते चलते: 'पंत पुत्त मुत्त, विसर्जन तड़-तड़ सुत्त।' कितने मज़ेदार दिन थे वो, वाद में दिद्दी हमसे कहती। हम गरीव थे, लेकिन अपनी ग़रीवी में कितने मस्त!

शायद यही कारण था कि दिद्दी ने अव ज़ोर-शोर मे लिखना शुरू कर दिया। धर्मयुग, नवनीत, ज्ञानोदय, न जाने कहां-कहां दिद्दी की कहानियां अव छपने लगीं। 'धर्मयुग' में छपी उस समय की एक कहानी मुझे वेहद पसंद है। 'लाल हवेली' को जव अव पढ़ती हूं तो लगता है कि उसमें भी ताहिरा अपना पुराना जीवन भुला के एक नए जीवन को अपनाने पर मजवूर हो जाती है। शायद हम तव इस कहानी में झलकता ताहिरा के पुराने जीवन की यादों को उसी तरह न देख पाए थे, जिस तरह दिद्दी के नैनीताल के जीवन में हम उसके अल्मोड़े के जीवन को भूल गए थे।

लाल हवेली

ताहिरा ने पास के बर्थ पर सोए अपने पति को देखा और एक लंबी सांस खींचकर करवट बदली ली। कंबल से ढकी रहमान अली की ऊंची तोंद गाड़ी के झकोलों से रह-रहकर कांप रही थी। अभी तीन घंटे और थे। ताहिरा ने अपनी नाज़ुक कलाई में बंधी हीरे की जगमगाती घड़ी को कोसा, कमबख़्त कितनी देर-देर में घंटी बजा रही थी। रातभर एक आंख भी नहीं लगी थी उसकी। पास के बर्थ में उसका पति और नीचे के बर्थ में उसकी बेटी सलमा दोनों नींद में बेख़बर बेहोश पड़े थे। ताहिरा घबराकर बैठ गई। क्यों आ गई थी वह पति के कहने में, सौ बहाने बना सकती थी! जो घाव समय और विस्मृति ने पूर दिया था, उसी पर उसने स्वयं ही नश्तर रख दिया, अब भुगतने के सिवा और चारा ही क्या था?

स्टेशन आ ही गया। ताहिरा ने काला रेशमी बुर्क़ा खींच लिया। दामी सूटकेस, नए बिस्तरबंद, एयर बैग, चांदी की सुराही उतरवाकर रहमान अली ने हाथ पकड़कर ताहिरा को ऐसे संभलकर अंदाज़ से उतारा जैसे वह कांच की गुड़िया हो, तनिक सा धक्का लगने पर टूटकर बिखर जाएगी। सलमा पहले ही कूदकर उतर चुकी थी। दूर से भागते, हांफते हाथ में काली टोपी पकड़े एक नाटे से आदमी ने लपककर रहमान अली को गले से लगाया और गोद में लेकर हवा में उठा लिया। उन दोनों की आंखों से आंसू बह रहे थे। 'तो यही मामू बित्ते हैं।' ताहिरा ने मन ही मन सोचा और थे भी बित्ते ही भर के। बिटिया को देखकर मामू ने झट गले से लगा लिया, "बिल्कुल इस्मत है, रहमान।" वे सलमा का माथा चूम-चूमकर कहे जा रहे थे, "वही चेहरा-मोहरा, वही नैन-नक़्श। इस्मत नहीं रही तो ख़ुदा ने दूसरी इस्मत भेज दी।"

ताहिरा पत्थर की सी मूरत बनी चुप खड़ी थी। उसके दिल पर जो दहकते अंगारे दहक रहे थे उन्हें कौन देख सकता था? वही स्टेशन, वही कनेर का पेड़, पंद्रह साल में इस छोटे से स्टेशन को भी क्या कोई नहीं बदल सका!

"चलो बेटी।" मामू बोले, "बाहर कार खड़ी है। ज़िला तो छोटा है, पर अल्ताफ़ की पहली पोस्टिंग यहीं हुई। इंशाअल्लाह अब कोई बड़ा शहर मिलेगा।"

मामू के इकलौते बेटे अल्ताफ़ की शादी में रहमान अली पाकिस्तान से आया था, अल्ताफ़ को पुलिस-कप्तान बनकर भी क्या इसी शहर में आना था? ताहिरा फिर मन ही मन कुढ़ी।

घर पहुंचे तो बूढ़ी नानी ख़ुशी से पागल सी हो गईं। बार-बार रहमान अली को गले लगा-लगाकर चूमती थीं और सलमा को देखकर ताहिरा को देखना ही भूल गईं, "या अल्लाह, यह क्या तेरी क़ुदरत? इस्मत को ही फिर भेज दिया!" दोनों बहुएं भी बोल उठीं, "सच अम्मी जान, बिल्कुल इस्मत आपा हैं, पर बहू का मुंह भी तो देखिए। लीजिए ये रही अशर्फ़ी।" और झट अशर्फ़ी थमाकर ननिया सास ने ताहिरा का बुर्क़ा उलट दिया, "अल्लाह, चांद का टुकड़ा है! नन्ही, नजमा देखो, सोने का दीया जला धरा है।"

ताहिरा ने लज्जा से सिर झुका लिया। पंद्रह साल में वह पहली बार ससुराल आई थी। बड़ी मुश्किल से वीज़ा मिला था, तीन दिन रहकर वह फिर पाकिस्तान चली जाएगी, पर कैसे कटेंगे ये तीन दिन?

"चलो बहू, ऊपर कमरे में चलकर आराम करो। मैं चाय भिजवाती हूं।" कहकर नन्ही मामी उसे ऊपर पहुंचा आई। रहमान नीचे ही बैठकर मामू से बातों में लग गया और सलमा को तो बड़ी अम्मी ने गोदी में ही खींच लिया। बार-बार उसके माथे पर हाथ फेरतीं और हिचकियां बंध जातीं, "मेरी इस्मत, मेरी बच्ची!"

ताहिरा ने एकांत कमरे में आकर बुर्क़ा दूर फेंक दिया। बंद खिड़की को खोला तो कलेजा धक् हो गया—सामने लाल हवेली खड़ी थी। चटपट खिड़की बंद कर वह तख़्त पर गिरती-पड़ती बैठ गई, "ख़ुदाया—तू मुझे क्यों सता रहा है?" वह मुंह ढांपकर सिसक उठी। पर क्यों दोष दे वह किसी को? वह तो जान गई थी कि हिंदुस्तान के जिस शहर में उसे जाना है, वहां का एक-एक कंकड़ उस पर पहाड़ सा टूटकर बरसेगा। उसके नेक पति को क्या पता! भोला रहमान अली, जिसकी पवित्र आंखों में ताहिरा के प्रति प्रेम की गंगा छलकती थी, जिसने उसे पालतू हिरनी सा बनाकर अपनी बेड़ियों से बांध लिया था, उस रहमान अली से वह क्या कहती?

पाकिस्तान के बंटवारे में कितने पिसे, उसी में से एक थी ताहिरा! तब थी वह सोलह वर्ष की कनक छड़ी सी सुंदरी, सुधा! सुधा अपने मामा के साथ ममेरी बहन के ब्याह में मुल्तान आई। दंगे की ज्वाला ने उसे फूंक दिया। मुस्लिम गुंडों की भीड़ जब भूखे कुत्तों की भांति उसे बोटी सी चिचोड़ने को थी तब ही आ गया फ़रिश्ता बनकर रहमान अली। नहीं वे नहीं छोड़ेंगे, हिंदुओं ने उनकी बहू-बेटियों को छोड़ दिया था क्या? पर रहमान अली की आवाज़ की मीठी डोर ने उन्हें बांध लिया। सांवला, दुबला-पतला रहमान सहसा कठोर मेघ बनकर उस पर छा गया। सुधा बच गई पर ताहिरा बनकर। रहमान की जवान बीवी को भी देहली में ऐसे ही पीस दिया था, वह जान बचाकर भाग आया था, बुझा और घायल दिल लेकर। सुधा ने बहुत सोचा-समझा और रहमान ने भी दलीलें कीं, पर परेशान हो गया। हारकर किसी ने एक-दूसरे पर बीती बिना सुने ही मजबूरियों से समझौता कर लिया। ताहिरा उदास होती तो रहमान अली आसमान से तारे तोड़ लाता, वह हंसती तो वह क़ुर्बान हो जाता। एक साल बाद बेटी पैदा हुई तो रहा-सहा मैल भी धुलकर बह गया। अब ताहिरा उसकी बेटी की मां थी, उसकी

क़िस्मत का बुलंद सितारा। पहले कराची में छोटी सी बजाजी की दुकान थी, अब वह सबसे बड़े डिपार्टमेंटल स्टोर का मालिक था। दस-दस सुंदरी एंग्लो इंडियन छोकरियां उसके इशारों पर नाचती, धड़ाधड़ अमेरिकी नायलॉन और डैकरॉन बेचतीं। दुबला-पतला रहमान हवा भरे रबर के खिलौने सा फूलने लगा। तोंद बढ़ गई। गर्दन ऐंठकर शानदार अकड़ से ऊंची उठ गई, सीना तन गया, आवाज़ में .ख़ुद ब .ख़ुद एक अमेरिकी ड्रौल आ गया।

पर नीलम-पुखराज से जड़ी, हीरे से चमकती-दमकती ताहिरा, शीशम के हाथी दांत जड़े छपर-खट पर अब भी बेचैन करवटें ही बदलती। हर मार्च के जाड़े से दामन छुड़ाती हल्की गर्मी की उमस लिए पाकिस्तानी दुपहरिया में पानी से निकली मछली सी तड़फड़ा उठती। मस्ती भरे होली के दिन जो अब उसकी पाकिस्तानी ज़िंदगी में कभी नहीं आएंगेः गुलाबी मलमल की वह चुनरी उसे अभी भी याद है, अम्मा ने हल्का सा गोटा टांक दिया था। हाथ में मोटी सी पुस्तक लिए उसका तरुण पति कुछ पढ़ रहा था। घुंघराली लटों का गुच्छा चौड़े माथे पर झुक गया था, हाथ की अधजली सिगरेट हाथ में ही बुझ गई थी। गुलाबी चुनरी के गोटे की चमक देखते ही उसने और भी सिर झुका दिया था, चुलबुली सुंदरी बालिका नववधू से झेंप-झेंपकर रह जाता था, बेचारा। पीछे से चुपचाप आकर सुधा ने गालों पर अबीर मल दिया था और झट चौके में घुसकर अम्मा के साथ गुझिया बनाने में जुट गई थी। वहीं से सास की नज़र बचाकर भोली चितवन से पति की ओर देख चट से छोटी सी गुलाबी जीभ निकालकर चिढ़ा भी दिया था, उसने। जब वह मुल्तान जाने को हुई तो कितना कहा था उन्होंने, 'सुधा, मुल्तान मत जाओ।' पर वह क्या जानती थी कि दुर्भाग्य का मेघ उस पर मंडरा रहा है? स्टेशन पर छोड़ने आए थे, इसी स्टेशन पर। यही कनेर का पेड़ था, यही जंगला। मामा जी के साथ गठरी

सी बनी सुधा को घूंघट उठाने का अवकाश नहीं मिला। गाड़ी चली तो साहस कर उसने घूंघट ज़रा सा खिसकाकर अंतिम बार उन्हें देखा था। वही अमृत की अंतिम घूंट थी।

सुधा तो मर गई थी, अब वह ताहिरा थी। उसने फिर कांपते हाथों से खिड़की खोली, वही लाल हवेली थी उसके श्वसुर वकील साहब की। वही छत पर चढ़ी रात की रानी की बेल, तीसरा कमरा जहां उसके जीवन की कितनी रस भरी रातें बीतीं थीं। न जाने क्या कर रहे होंगे, शादी कर ली होगी, क्या पता बच्चों से खेल रहे हों! आंखें फिर बरसने लगीं और एक अनजाने मोह से वह जूझ उठी।

"ताहिरा, अरे कहां हो?" रहमान अली का स्वर आया और हड़बड़ा कर आंखें पोंछ ताहिरा बिस्तरबंद खोलने लगी। रहमान अली ने गीली आंखें देखीं तो घुटना टेककर उसके पास बैठ गया, "अब बीबी, क्या बात हो गई? सिर तो नहीं दुख रहा है? चलो-चलो, लेटो चलकर। कितनी बार समझाया है कि यह सब काम मत करो, पर सुनता कौन है! बैठो कुर्सी पर, मैं बिस्तर खोलता हूं।" मख़मली गद्दे पर रेशमी चादर बिछाकर रहमान अली ने ताहिरा को लिटा दिया और शर्बत लेने चला गया। सलमा आकर सिर दबाने लगी, बड़ी अम्मी ने आकर कहा, "नज़र लग गई है, और क्या!" नहीं नजमा ने दहकते अंगारों पर चून और मिर्च से नज़र उतारी। किसी ने कहा, "दिल का दौरा पड़ गया, आंवले का मुरब्बा चटाकर देखो।"

लाड़ और दुलार की थपकियां देकर सब चले गए। पास में लेटा रहमान अली ख़र्राटें भरने लगा। तो दबे पैरों वह फिर खिड़की पर जा खड़ी हुई। बहुत दिन से प्यासे को जैसे ठंडे पानी की झील मिल गई थी, पानी पी-पीकर भी प्यास नहीं बुझ रही थी। तीसरी मंज़िल पर रोशनी जल रही थी। उस घर में रात का खाना देर से ही निबटता था। फिर खाने के बाद दूध पीने की भी तो उन्हें आदत थी। इतने

साल गुज़र गए, फिर भी उनकी एक-एक आदत उसे दो के पहाड़े की तरह ज़बानी याद थी। सुधा, सुधा कहां है तू? उसका हृदय उसे स्वयं धिक्कार उठा, तूने अपना गला क्यों नहीं घोंट दिया? तू मर क्यों नहीं गई, कुएं में कूदकर? क्या पाकिस्तान के कुएं सूख गए थे? तूने धर्म छोड़ा, पर संस्कार रह गए, प्रेम की धारा मोड़ दी, पर बेड़ी नहीं कटी, हर तीज, होली, दीवाली तेरे कलेजे पर भाला भोंककर निकल जाती है। हर ईद तुझे खुशी से क्यों नहीं भर देती? आज सामने तेरे ससुराल की हवेली है, जा उनके चरणों में गिरकर अपने पाप धो ले। ताहिरा ने सिसकियां रोकने को दुपट्टा मुंह में दबा लिया।

रहमान अली ने करवट बदली और पलंग चरमराया। दबे पैर रखती ताहिरा फिर लेट गई। सुबह उठी तो शहनाइयां बज रही थीं, रेशमी रंग-बिरंगी गरारा-क़मीज़, अबरखी चमकते दुपट्टे, हीना और मोतिया की गमक से पूरा घर मह-मह कर रहा था। पुलिस बैंड तैयार था, ख़ाकी वर्दियां और लाल तुर्रम के साफे सूरज की किरनों से चमक रहे थे। बरात में घर की सब औरतें भी जाएंगी। एक बस में रेशमी चादर तानकर पर्दा खींच दिया गया था। लड़कियां बड़ी-बड़ी सुर्मेदार आंखों से नशा सा बिखेरती एक-दूसरे पर गिरती-पड़ती बस पर चढ़ रही थीं। बड़ी-बूढ़ियां पानदान समेटकर बड़े इत्मीनान से बैठने जा रही थीं और पीछे-पीछे ताहिरा काला बुर्क़ा ओढ़कर ऐसी गुमसुम चली जा रही थी जैसे सुध-बुध खो बैठी हो। ऐसी ही एक सांझ को वह भी दुल्हन बनकर इसी शहर में आई थी, बस में सिमटी-सिमटाई लाल चूनर से ढकी। आज था स्याह बुर्क़ा, जिसने उसका चेहरा ही नहीं, पूरी पिछली ज़िंदगी अंधेरे में डुबाकर रख दी थी।

"अरे किसी ने वकील साहब के यहां बुलौआ भेजा या नहीं?" बड़ी अम्मी बोलीं और ताहिरा के दिल पर फिर नश्तर फिरा।

"दे दिया, अम्मी।" मामूजान बोले, "उनकी तबीयत ठीक नहीं

है, इसी से नहीं आए।''

''बड़े नेक आदमी हैं।'' बड़ी अम्मी ने डिबिया खोलकर पान मुंह में भरा, फिर छाली की चुटकी निकाली और बोलीं, ''शहर के सबसे नामी वकील के बेटे हैं पर आस न औलाद। सुना एक बीवी दंगे में मर गई सो फिर घर ही नहीं बसाया।''

बड़ी धूमधाम से ब्याह हुआ, चांद सी दुल्हन आई। शाम को पिक्चर का प्रोग्राम बना। नया जोड़ा, बड़ी अम्मी, लड़कियां यहां तक कि घर की नौकरानियां भी बन-ठनकर तैयार हो गईं। पर ताहिरा नहीं गई, उसका सिर दुख रहा था। बे सिर-पैर के मुहब्बत के गाने सुनने की ताक़त उसमें नहीं थी। अकेले अंधेरे कमरे में वह चुपचाप पड़ी रहना चाहती थी—हिंदुस्तान, प्यारे हिंदुस्तान की आख़री सांझ।

जब सब चले गए तो तेज़ बत्ती जलाकर वह आदमक़द आईने के सामने खड़ी हो गई। समय और भाग्य का अत्याचार भी उसका अलौकिक सौंदर्य नहीं लूट सका। वही बड़ी-बड़ी आंखें, गोरा रंग और संगमरमर सी सफ़ेद देह—कौन कहेगा एक जब जवान बेटी की मां है? कहीं पर भी उसके पुष्ट यौवन ने समय से मुंह की नहीं खाई थी। कल वह सुबह चार बजे चली जाएगी। जिस देवता ने उसके लिए सर्वस्व त्यागकर वैरागी का वेश धर लिया है, क्या एक बार भी उसके दर्शन नहीं मिलेंगे? किसी शैतान-नटखट बालक की भांति उसकी आंखें चमकने लगीं।

झटपट बुर्क़ा ओढ़, वह बाहर निकल आई, पैरों में बिजली की गति आ गई, पर हवेली के पास आकर वह पसीना-पसीना हो गई। पिछवाड़े की सीढ़ियां उसे याद थीं जो ठीक उनके कमरे की छोटी खिड़की के पास आकर ही रुकती थीं। एक-एक पैर दस मन का हो गया, कलेजा फट-फटकर मुंह को आ गया, पर अब वह ताहिरा

नहीं थी, वह सोलह वर्ष पूर्व की चंचल बालिका नववधू सुधा थी जो सास की नज़र बचाकर तरुण पति के गालों पर अबीर मलने जा रही थी। मिलन के उन अमूल्य क्षणों में सैयद वंश के रहमान अली का अस्तित्व मिट गया था। आख़री सीढ़ी आई, सांस रोककर, आंखें मूंद वह मनाने लगी, "हे बालेश्वर महादेव, तुम्हारे चरणों में यह हीरे की अंगूठी चढ़ाऊंगी, एक बार उन्हें दिखा दो पर वे मुझे न देखें।"

बहुत दिन बाद भक्त ने भगवान का स्मरण किया था, कैसे न सुनते? आंसुओं से अंधी आंखों ने देवता को देख लिया। वही गंभीर मुद्रा, वही लट्ठे का इकबर्रा पजामा और मलमल का कुर्ता। मेज़ पर अभागिन सुधा की तस्वीर थी जो गौने पर बड़े भैया ने खींची थी।

"जी भरकर देख पगली और भाग जा, भाग ताहिरा भाग!" उसके कानों में जैसे स्वयं भोलानाथ गरजे।

सुधा फिर डूब गई, ताहिरा जगी। सब सिनेमा से लौटने को होंगे। अंतिम बार आंखों ही आंखों में देवता की चरण-धूलि लेकर वह लौटी और बालेश्वर महादेव के निर्जन देवालय की ओर भागी। न जाने कितनी मनौतियां मांगी थीं, इसी देहरी पर। सिर पटककर वह लोट गई, आंचल पसारकर उसने आख़री मनौती मांगी, "हे भोलानाथ, उन्हें सुखी रखना। उनके पैरों में कांटा भी न गड़े।" हीरे की अंगूठी उतारकर चढ़ा दी और भागती-हांफती घर पहुंची।

रहमान अली ने आते ही उसका पीला चेहरा देखा तो नब्ज़ पकड़ ली, "देखूं, बुखार तो नहीं है, अरे अंगूठी कहां गई?" वह अंगूठी रहमान ने उसे इसी साल शादी के दिन की यादगार में पहनाई थी।

"न जाने कहां गिर गई?" थके स्वर में ताहिरा ने कहा।

"कोई बात नहीं।" रहमान ने झुककर ठंडी बर्फ़ सी उंगलियों को चूमकर कहा, "ये उंगलियां आबाद रहें। इंशाअल्ला अब के तेहरान से चौकोर हीरा मंगवा लेंगे।"

ताहिरा की खोई दृष्टि खिड़की से बाहर अंधेरे में डूबती लाल हवेली पर थी, जिसके तीसरे कमरे की रोशनी दप से बुझ गई थी। ताहिरा ने एक सर्द सांस खींचकर खिड़की बंद कर दी।

लाल हवेली अंधेरे में गले तक डूब चुकी थी।

6

बीनू

मैं लगभग बारह साल की हो चुकी थी जब मुझे ये पता चला कि बीनू हमारी सगी बहन नहीं है। शायद मैं बेहद बेवकूफ़ रही होंगी क्योंकि मुझे ये कभी अजब नहीं लगा कि देखने में बीनू हम तीनों बहनों में अलग सी थी। मीनू और मेरी शक्ल काफी मिलती थी, लेकिन रंग, नाक-नक़्श और डील-डौल में बीनू हमसे काफी भिन्न थी। अक्सर बाहर के लोग दिद्दी से यही सवाल पूछते पर दिद्दी बहुत सफ़ाई से उसे टाल देती। शायद यही कारण था कि मिकी और मुझे इस राज़ का पता बहुत देर में चला।

जब वे छोटी थीं, दिद्दी बीनू-मीनू को एक से कपड़े पहनाती, जिससे कि वे जुड़वां बहनें लगें। एक बार मैंने दिद्दी से पूछा था कि हमारे उपनाम किसने चुने? जवाब था, बीनू ने। बीनू ने ही ज़िद की थी कि मीनू को मैं मीनू कहूं, और तुम्हारा नाम, माऊं, भी उसी ने रखा। आज तक, पूरे परिवार में बीनू ही मुझे माऊं कह के पुकारती है। लेकिन बीनू का नाम किसने रखा? मैंने पूछा। दिद्दी मुस्कराई, अरे वो तो मेरे पास बीनू ही बन के आई थी, उसने कहा। और मैंने ये मान लिया कि किसी पहुंचे हुए साधु महात्मा की तरह, बीनू हमेशा से बीनू ही थी।

लेकिन मुझे अच्छी तरह याद है कि मुझे असली बात कैसे पता चली। मुझे प्रायरी लॉज के दफ़्तर वाले हिस्से में जाना बेहद पसंद था। वहां कभी टाईपराइटर पर कुछ लिखती या घंटों बैठ के क्लर्कों से उनके परिवारों के बारे में बातें सुनती। एक दिन एक क्लर्क ने मुझसे पूछा: "तो तुम्हारी सौतेली बहन

कहां है?" "सौतेली बहन?" मैंने आश्चर्य से उसे देखा, "हमारी कोई सौतेली बहन नहीं है!" वो कुछ कहने ही वाला था कि किसी ने शायद उसे मेज़ के नीचे एक लात मारी और वो खिसिया के चुप हो गया। "हम तो ऐसी औरत को देवी कहते हैं!" कह के वो चुप हो गया।

मैं धड़धड़ाती हुई दिद्दी के कमरे में घुसी। "दी!" मैंने उससे कहा, "क्या हमारी कोई सौतेली बहन भी है?" दिद्दी उस समय कुछ लिख रही थी, उसने झुंझला के मेरी ओर देखा और पूछा, "ये किसने कहा तुमसे?" मैंने उस क्लर्क का नाम जैसे ही लिया, दिद्दी ने एक डांट लगा के मुझसे कहा, "कितनी बार कहा है तुमसे कि दफ़्तर मत जाया करो! बाबू को पता चलेगा, तो बहुत नाराज़ होंगे। जाओ, कोई किताब पढ़ो या बाहर जाके खेलो, समझीं।"

लेकिन आख़िर ये राज़ खुल गया। इसके बाद, कई बार इस बात का उल्लेख मैंने और लोगों से भी सुना, और धीरे-धीरे ये बात मेरे समझ में आ गई कि बीनू की मां कोई और ही थीं। इस बात से मुझे बीनू के प्रति और लाड़ हो गया और मैंने प्रण किया कि मैं किसी तरह उसे ये अनुभव न होने दूंगी कि हम सगी बहनें नहीं हैं। नतीजा ये हुआ कि आज तक हम सब बीनू को सबसे ज़्यादा प्यार करते हैं और जहां बचपन में मीनू और मेरी निरंतर लड़ाई होती रहती, बीनू से हम सबका बेहद लगाव था। अब लगता है कि बचपन में मिकी और मुझे बीनू से वही प्यार मिला जो एक मां से मिलता है और हमारे लिए बीनू का दर्जा दिद्दी के ही बराबर रहा है।

जैसे-जैसे हम बड़े हुए, और दिद्दी ने ये मान लिया कि हमें सत्य पता चल चुका है, कभी-कभी दिद्दी से हमें बीनू की मां के बारे में कोई बात पता चलती। तो हमें धीरे-धीरे ये मालूम हुआ कि उनकी दिद्दी से दोस्ती थी, कि जब जयंती और दिद्दी शांतिनिकेतन से घर आते थे, तो वे उनसे मिलते और कि उन्होंने एक बार दिद्दी से उसके एक ब्लाउज़ का नमूना लिया था। लेकिन इन छुटपुट बातों के अलावा, दिद्दी ने हमें कभी कुछ न बताया, न कभी ये जानने दिया कि उसने बाबू से शादी करना कैसे स्वीकार कर लिया ये जानते हुए कि वे बीनू की मां को कितना चाहते थे।

दिद्दी के निधन के बाद, जब एक बार बीनू और मैं उसके कागज़ात संभाल रहे थे, मैंने बीनू से पूछा कि क्या उसे इस बात से आश्चर्य नहीं हुआ कि दिद्दी की चीज़ों में उसकी मां की कोई निशानी, यहां तक कि एक तस्वीर भी नहीं थी? बीनू कुछ देर चुप रही फिर बोली, 'ठहरो!' उठकर, उसने अपनी अलमारी में से एक पुराना टॉफी का डिब्बा निकाला, और मेरे सामने रख के बोली, 'इसे देखो।' अंदर थीं बाबू और उसकी मां, गंगा, की चंद तस्वीरें। मैं कह नहीं सकती हूं कि उनको देखकर मुझे कैसा लगा। बाबू को किसी अन्य महिला के साथ देखकर एक मिनट को मेरा दिमाग़ चकरा गया। सामने पड़ी वो तस्वीर मेरी आंखों को चौंधिया गई। बार-बार मैं बाबू को देखती—उनकी आंखों में अपनी नवेली पत्नी के प्रति गर्व और प्रेम साफ़ झलक रहा था। फिर मेरी नज़र गंगा पर टिकी—तो ये थीं बीनू की मां! ज़िंदगी भर हमने इनका नाम भी नहीं लिया था, उन्हें गंगा कहना अभद्र लगा लेकिन उन्हें मां भी तो नहीं कह सकती थी। उनके बारे में हम कितना कम जानते थे! शादी के बाद मुझे मेरी सास ने उनकी कुछ बातें बताई थीं, क्योंकि छुटपन में वे सखियां थीं। गंगा बहुत चुलबुली थी, चटोरी भी। उसे लाल मिर्च का अचार और साथ में खौलती चाय पीने का शौक था। शादी के दिन उसने इतनी सारी कच्ची ख़ुबानियां खा लीं कि उसका पेट चल पड़ा और कन्यादान के समय वो बेहोश हो पड़ी थी। तुम्हारे बाबू उसे उठाकर अपने घर ले गए थे...

मैंने फिर से उस तस्वीर को देखा: गंगा का जब निधन हुआ तो वो मुश्किल से **25** साल की थीं, मेरे मन में बार-बार यही वाक्य घूम रहा था। उनकी नाज़ुक, सलोनी शक्ल में एक मासूमियत थी, वही मासूमियत जो अक्सर उन चेहरों पर होती है जिन्हें ईश्वर लंबी आयु नहीं देता। हो सकता है कि अगर वो आज भी ज़िंदा होतीं तो ये नाज़ुक सौंदर्य कुछ और ही बन गया होता। लेकिन ये सब व्यर्थ की बातें थीं: सत्य तो ये था कि बाबू उनसे बेहद प्यार करते थे और आजन्म उन्होंने गंगा को इसी नज़र से देखा और याद किया होगा। धीरे-धीरे मेरे समझ में आने लगा कि बाबू के भयंकर 'मूड' का असली कारण क्या हो सकता था।

अचानक मुझे आभास हुआ कि दिद्दी पर तब क्या बीतती होगी जब-

जव उसे ये लगता कि वावू के जीवन में उसका ओहदा हमेशा दूसरे नंवर पर रहेगा। उस पर तव क्या बीती होगी जव उसे पहली वार ये पता चला होगा कि वावू गंगा को कभी न भुला पाएंगे। दिद्दी का वावू से ये अपेक्षा करना कि वो उसे भी वही दर्जा दें, उसके लिए ये कितना अनिवार्य था। और फिर ये मान लेना कि ऐसा कभी न होगा, कितना दुखद!

मैं अब **52** साल की हो चुकी थी, और दिद्दी-बावू के संबंध को अव सर्वथा नवीन ढंग से देखने की जो क्षमता अव मुझमें थी वो तव न थी जव **12** साल की आयु पर मुझे इस रिश्ते का पहले आभास हुआ था। तव मेरी पूरी सहानुभूति वीनू के साथ थी, लेकिन अब मुझे दिद्दी पर कितना तरस आने लगा था। जब दिद्दी और वावू की शादी हुई होगी, दिद्दी क्या थी, इसे मैं समझने लगी। शांतिनिकेतन में पढ़ी, मेधावी, सुंदर और सवकी लाड़ली। 'लाल हवेली' में जिस तरह ताहिरा को अपना पुराना जीवन भुलाकर एक नया जीवन अपनाना पड़ता है, उसी तरह दिद्दी ने भी अपना अतीत भुला दिया। तभी शायद वो कहानी इतनी मार्मिक वन पाई।

'तुमने अपनी मां की तस्वीर कभी अपने घर में क्यों नहीं लगाई?' मैंने वीनू से पूछा। 'नहीं क़र पाई,' वीनू ने उत्तर दिया, मैं उन्हें जानती ही कहां थी! ज़िंदगी भर मैंने दिद्दी को ही अपनी मां माना, और जव तक दिद्दी ज़िंदा थी ऐसा करना न उचित लगा, न मेरा मन ही किया। मुझे कभी ये हिम्मत ही नहीं हुई कि मैं दिद्दी से—या किसी और से—अपनी मां के वारे में पूछूं। बहुत पहले ही मैंने यह सोच लिया था कि इस चुप्पी को मैं कभी भंग नहीं करूंगी। और अव जव दिद्दी ही नहीं रही, इस प्रसंग को यहीं बंद कर देना चाहिए।' ये कहते हुए, उसने तस्वीरों को उसी डिब्बे में रखकर, वापस अलमारी में वंद कर दिया।

लेकिन एक कहानी है, जिसमें दिद्दी ने वावू और गंगा की पूरी गाथा रख छोड़ी है। **60** के दशक में, दिद्दी ने 'लाटी' नाम की एक मार्मिक कहानी में वो सव लिख डाला जो वो कभी अपनी जुवान से हमें नहीं वता पाई।

लाटी

लंबे देवदारों का झुरमुट झुक-झुककर गेठिया सैनेटोरिया की बलैया सी ले रहा था। कांच की खिड़कियों पर सूरज की आड़ी-तिरछी किरणें मरीज़ों के क्लांत चेहरों पर पड़कर उन्हें उठा देती थीं। मौत की नगरी के मुसाफ़िरों के रोग जीर्ण पीले चेहरे सुबह की मीठी धूप में क्षण भर को खिल उठते। आज टी.बी. सिरदर्द और जुकाम-खांसी की तरह आसानी से जीती जाने वाली बीमारी है, पर आज से कोई बीस साल पहले टी.बी. मृत्यु का जीवंत आह्वान थी। भुवाली से भी अधिक मांग तब गेठिया सैनेटोरियम की थी। काठगोदाम से कुछ ही मील दूर एक ऊंचे पहाड़ पर गेठिया सैनेटोरियम के लाल-लाल छतों के बंगले छोटे-छोटे गुलदस्ते से सजे थे।

तीन नंबर के बंगले का दुगुना किराया देकर कप्तान जोशी स्वयं अपनी रोगिणी पत्नी के साथ रहता था। बंगले के बरामदे में पत्नी के पलंग के पास वह दिनभर आरामकुर्सी डाले बैठा रहता, कभी अपने हाथों से टेम्परेचर चार्ट भरता और कभी समय देख-देखकर दवाइयां देता। पास के बंगलों के मरीज़ बड़ी तृष्णा और चाव से उनकी कबूतर सी जोड़ी को देखते। ऐसी घातक बीमारी में कितने यत्न और स्नेह से सेवा करता था कप्तान जोशी! कभी उसके आनंदी चेहरे पर झुंझलाहट या खीझ की अस्पष्ट रेखा भी नहीं उभरती। कभी वह घुंघराले बालों को ब्रुश से संवारता, बड़े ही मीठे स्वर में पहाड़ी झोड़े गाता, जिनकी मिठास में तिब्बती बकरियों के गले में बंधी, बजती-रुनकती घंटियों की सी छुनक रहती। पहाड़ी मरीज़ बिस्तरों से पुकारकर कहते, "वाह कप्तान साहब, एक और।" कप्तान अपने पलंग से घुली-मिली सुंदरी 'बानो' की ओर देख बड़े लाड़ से मुस्करा देता। बानो का गोरा

चेहरा बीमारी से एकदम पीला पड़ गया था और उसकी बड़ी-बड़ी आंखें और भी बड़ी-बड़ी हो गई थीं। शांत तरल दृष्टि से वह कप्तान को दिन-रात टुकुर-टुकुर देखती रहती। विवाह के दो वर्ष पश्चात यही उनका वास्तविक हनीमून था, जहां न अम्मा, चाची और ताई की शासन की लगाम थी, न नई बहू के घूंघट की बंदिश। पिंजड़े की चिड़िया आज़ाद कर दी गई थी किंतु अब उसके कमज़ोर डैनों में उड़ने की ताक़त नहीं थी। कप्तान उसकी दुर्बल तप्त हथेली को अपनी कसरती मुट्ठी में बड़े प्यार से दबाकर सहलाने लगता तो उसकी सींक सी कलाई की सोने की चूड़ी सर-सर कर कोहनी तक सरक जाती।

उन दिनों गेठिया का डॉक्टर एक अधेड़ स्विस था। एक दिन उसने कप्तान को अकेले में बुलाकर कहा, "कप्तान, तुम अभी जवान हो, यह बीमारी जवानी की भूखी है। मैं देख रहा हूं, तुम ज़रा भी परहेज़ नहीं बरतते। मरीज़ की भूख को दवा से जीतना होगा, मुहब्बत से नहीं।"

क्षण भर को सब समझाकर कप्तान लाल पड़ गया। उसके बूढ़े पिता के भी कई पत्र आ चुके थे और मां ने रो-रोकर चिट्ठियां डाल दी थीं, "मेरे दस-बीस पूत नहीं हैं बेटा, यह बीमारी सत्यानाशी है;" पर कप्तान पहले की तरह अलमस्त डोलता, कभी बानो के चिकने केशों को चूमता, कभी उसकी रेशमी पलकों को, कभी पास के प्राइवेट वार्ड की गुमानसिंह मालदार की गोल-मटोल पत्नी से मज़ाक़ करता।

सैनेटोरियम की मनहूस ज़िंदगी के काले आकाश में रोबदार ठकुरानी ही एकमात्र द्युतिमान तारिका थी। भरे-भरे हाथ-पैर की, चिकने चेहरे पर सदा मुस्कान बिखेरती वह पूरे सैनेटोरियम की भाभी थी। उसके स्वास्थ्य के दुर्गम दुर्ग में भी न जाने बीमारी का घुन किस अरक्षित क्षिद्र से प्रवेश पा गया था। टी.बी. लगने की पीड़ा से कराहती वह अपनी कदर्य गालियों का अक्षय भंडार खोल देती। कभी लक्षपति श्वसुर

को लक्ष्य बनाती, "हैं हमारे 'बुड़ज्यू' आधी कुमाऊं के छत्रपति, पर बहू तिथांण (श्मशान) को जा रही है तो उनकी बला से! दुम उठाकर जिसे देखा, वही बदज़ात नर से मादा निकला।" "ए शाबाश, क्या पंच के स्टैंडर्ड का सेंस ऑफ़ ह्यूमर है! भाभी, तबीयत बाग़-बाग़ कर दी।" कप्तान कहता। "एक मेरा ख़सम है साला। पी के धुत होगा किसी गोरी मेम को लेकर। दो महीने से हरामी झांकने भी नहीं आया। दाढ़ाजरे की ठठरी उठेगी तो मजाल मैं भी सुहाग उतारूं।" वह फिर कहती। "क्यों भाभी, क्यों कोस रही हो?" कप्तान हंसकर कहता।

प्रौढ़ा नेपाली भाभी की सदाबहार हंसी से खिलखिलाती आंखें छलक उठतीं, "शाबास है, कप्तान बेटा, तुझे देखकर मेरी छातियों में दूध उतर आता है। कैसी सेवा कर रहा है तू, और एक हमारे हैं कुतिया के जने! मिले तो मूंछें उखाड़कर हरामी के मुंह में ठूंस दूं।"

कप्तान हंसते-हंसते दुहरा हो जाता, मूंछें उखाड़कर मुंह में ठूसने की बात कुछ ऐसी जम जाती कि वह भागकर बानो को सुना आता।

नेपाली भाभी के पति की असंख्य मोटरें अल्मोड़ा-नैनीताल को घेरे रहतीं, चाय के बग़ीचों का अंत नहीं था; किंतु उनके वैभव ने पत्नी के प्रति प्रेम और मोह की बेड़िया काट दी थीं। एक वर्ष से वे एक बार भी उसे देखने नहीं आए।

एक दिन कप्तान ने देखा, नेपाली भाभी की खांसी बहुत ही बढ़ गई है, खांसी का दौरा सा पड़ा और कप्तान भागकर देखने गया तो देखा, रक्त के कुंड के बीच नेपाली भाभी की विराट गेहुंआ देह निष्प्राण पड़ी थी। पति की मूंछों को उसके मुंह में ठूसने का स्वप्न अधूरा ही छोड़कर भाभी चली गई थी।

कुछ दिन तक कप्तान उदास हो गया। बानो की बड़ी-बड़ी आंखों में भी उदासी के डोरे पड़ गए। जब ऐसी हंसती-खेलती लाल-लाल भाभी को मौत खींच ले गई तो हड्डियों का ढांचा मात्र बानो तो हवा में उड़ती रूई का फाया थी। भाभी की मौत आकर जैसे उन दोनों

के कान में कह गई थी कि ज़िंदगी कुछ ही पलों की है। उन अमूल्य पलों के अमृतस्वरूपी रस की अंतिम बूंद भी उन दोनों को छोड़ना मंजूर न था। नित्य निकट आती मौत ने बानो को चिड़चिड़ा बना दिया, पर जैसे इकलौते ज़िद्दी दुर्बल बालक की हर ज़िद को स्नेहमयी माता हंस-खेलकर झेल लेती है, वैसे ही कप्तान हठीली बानो की हर ज़िद पूरी करता। कभी वह खिली चांदनी में बाहर जाने को मचलती तो वह अपने ख़ाकी ओवरकोट में उसे लपेटकर अपनी देह से सटाए लंबे चीड़ की छाया में बैठा रहता।

बानो को विवाह के ठीक तीसरे ही दिन छोड़कर उसे बसरा जाना पड़ा था। उन तीन दिनों में, ख़ाकी वर्दी में कसे छह फ़ुटी शरीर और भूरी-भूरी मूंछों को देखकर, बानो उससे जितना ही कटी-कटी छिपी फिरती, वह उसे पाने को उतना ही उन्मत्त हो उठता। उसे देखते ही वह अपनी मेहंदी लगी नाज़ुक हथेलियों से लाज से गुलाबी चेहरा ढांक लेती। दूसरे दिन बड़ी कठिनता से कप्तान उसके मुंह से धीमी फुसफुसाहट में उसका नाम कहलवा पाया था, बहुत धीमे स्वर में ही प्रणय-निवेदन की भूमिका बांधनी पड़ी थी; क्योंकि पास के कमरे में ही ताऊजी लेटते थे।

"क्या नाम है तुम्हारा?" उसकी तीखी ठुड्डी उठाकर कप्तान ने पूछा था।

"बानो।" उसके पतले होंठ हिलकर रह गए।

"राम-राम, मुसलमानी नाम।" कप्तान ने हंसकर छेड़ दिया।

"सब यही कहते हैं, मैं क्या करूं?" बानो की आंखें छलक उठीं।

"मैं तो तुम्हें छेड़ रहा था, कितना प्यारा नाम है! पहाड़ी नाम भी कोई नाम होते हैं भला सरुली, परुली, रमा, खष्टी।" वह बोला, "कितने साल की हो तुम, बानो?"

"इस आषाढ़ में मुझे सोलहवां लगेगा।" बानो ऐसे उत्साह से बोली

जैसे उसने आधी ज़िंदगी पार कर ली हो। कप्तान का दिल भर आया, अपनी खिलौने सी बहू को उसने खींचकर हृदय से लगा लिया। पहले वह अपने ताऊ और पिता से सख़्त नाराज़ हो गया था, कहां वह ठसकेदार बांका कप्तान और कहां हाईस्कूल पास छोकरी को पल्ले बांधकर रख दिया! पर बालिका बानो की सरल आंखों का जादू उस पर चल गया। तीसरे दिन ही उसे बसरा जाना था। कप्तान बानो से विदा लेने गया तो वह कोने में बैठी छालियां कतर रही थी, उसकी पलकें भीगी थीं और पति की आहट पाकर उसने घुटनों में सिर डाल दिया। झट से झुककर कप्तान ने उसका माथा चूम लिया। उसका गला भर आया।

तीन दिन की ताज़ी सुंदरी नववधू को इस तरह छोड़कर जाना कप्तान को दुश्मन की गोलाबारी से भी भयंकर लगा। इसके बाद दो वर्षों तक कप्तान युद्ध की विभीषिका में भटक गया। बर्मा और बसरा के जंगलों में भटक-भटककर उसके साथी वहशी बन गए थे। गंदे अश्लील मज़ाक़ करते। फ़ौजी अफ़सरों में कप्तान ही सबसे छोटी उम्र का था। बर्मा की युद्ध से स्तब्ध सड़कों पर चपल बर्मी रमणियों के कुटिल कटाक्षों का अभाव नहीं था, फिर भी कप्तान अपनी जवानी को दांतों के बीच जीभ सी बचाता सेंत गया।

दो साल बाद घर पहुंचा तो दुनिया बदल चुकी थी। उन दो वर्षों में बानो ने सात-सात ननदों के ताने सुने, भतीजों के कपड़े धोए, ससुर के होज बीने, पहाड़ की नुकीली छतों पर पांच-पांच सेर उड़द पीसकर बड़ियां तोड़ीं। कभी सुनती उसके पति को जापानियों ने क़ैद कर लिया है, अब वह कभी नहीं लौटेगा। सास और चचिया सास के व्यंग्य-बाण उसे छेद देते, वह घुलती गई और एक दिन क्षय का तक्षक कुंडली मारकर उसकी नन्ही सी छाती पर बैठ गया। उसे सैनेटोरियम भेज दिया था। दूसरे ही दिन कप्तान बानो को देखने चल दिया तो घरवालों के चेहरे लटक गए।

गेठिया पहुंचा और एक प्राइवेट वार्ड के बरामदे में लेटी बानो को देखकर उसका कलेजा उछलकर मुंह को आ गया। दो वर्षों में बानो घिसकर और भी बच्ची बन गई थी। कप्तान को देखकर उसकी तरल आंखें खुली ही रह गईं, फिर आंसू टपकने लगे। कहने और कैफ़ियत देने की कोई गुंजाइश नहीं रही। बानो के बहते आंसुओं की धारा ने दो साल के सारे उलाहने सुना दिए। दोनों ने समझ लिया कि मिलन के वे क्षण मुट्ठी भर ही रह गए थे।

उन दिनों सैनेटोरियम में एक अत्यंत क्रूर नियम था। रोगियों को उनकी अंतिम अवस्था जानकर उन्हें घर भेज दिया जाता। सैनेटोरियम में मृत्यु का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध था। नेपाली भाभी की मृत्यु के बाद कप्तान और बानो मातम में डूब गए, पर चौथे दिन वे फिर हनीमून मनाने लगे। अपनी साड़ियों का बक्स निकलवाकर बानो ने कई साड़ियों पर इस्त्री करवाई। बड़ी देर तक दोनों ने पेशेंस खेला, पर शाम होते ही बानो मुरझाने लगी। दिनभर उसे दस्त आ रहे थे और टी.बी. के मरीज़ को दस्त आना ख़तरे से ख़ाली नहीं होता। डॉक्टर दलाल आया, उसने कप्तान को बहार ले जाकर कमरा ख़ाली करवाने का नोटिस दे दिया, "कल ही ले जाना होगा, आई गिव हर टू टु-थ्री डेज़। इससे ज़्यादा नहीं बचेगी।"

कप्तान का चेहरा सफ़ेद पड़ गया। घर जाने का प्रश्न नहीं उठता था, तीन रसभरे महीनों की मीठी धरोहर को वह घर की कड़वाहट से अछूता ही रखना चाहता था। भुवाली के पास ही एक चाय की दुकान के नीचे साफ़-सुथरा कमरा, मृत्यु का पासपोर्ट पाए बानो जैसे अभागे मरीज़ों के लिए सदा बांहें फैलाए खुला रहता था।

"सैनेटोरियम छोड़कर हम कल दूसरी जगह चलेंगे, बानो। यहां साली तबीयत बोर हो गई है।" बड़े उत्साह और आनंद से कप्तान ने भूमिका बांधी, पर बानो का चेहरा फक पड़ गया। वह समझ गई

कि आज उसे भी नोटिस दे दिया गया है।

बड़ी रात तक कप्तान उसके गालों के पास अपना चेहरा ले जाकर गुनगुनाता रहा, "बानो, मेरी बन्नी, बन्नू!" और फिर जब बानो को नींद आ गई तो वह भी अपने पलंग पर जाकर सो गया।

सुबह उठा तो बानो पलंग पर नहीं थी। सोचा, घिसटती बाथरूम तक चली गई होगी। जोश आने पर वह काफ़ी दूर तक चल लेती थी। बड़ी देर तक नहीं लौटी तो वह घबराकर उठा। बानो कहीं नहीं थी। भागकर वह मरीज़ों के पास गया, डॉक्टर आया, नर्सें आईं, चौकीदार आया, पर बानो कहीं नहीं थी। सैनेटोरियम में आज पहली बार ऐसी अनहोनी घटना घटी थी।

दूसरे दिन बड़ी दूर रथी घाट पर बानो की साड़ी मिली थी। मृत्यु के आने से पूर्व वह अभागी स्वयं ही भागकर मृत्यु से मिलने चली गई थी।

इसमें कोई संदेह नहीं रहा कि बानो ने डूबकर आत्महत्या कर ली थी। शोक से पागल होकर कप्तान उसकी साड़ी को छाती से चिपटाए फिरता रहा; किंतु मर्द की जवानी जाड़े की भयंकर लंबी रात के समान है, जो काटे नहीं कटती। एक ही साल में उसका फिर विवाह हुआ, अब के ताऊ और पिता ने ख़ूब ठोक-पीट कर बहू छांटी। ऊंची-अगली, गोरी और एम.ए. पास। कप्तान की नई पत्नी के पिता थे मेजर जनरल। चालीस तमग़े लगाकर उन्होंने कन्यादान किया तो कप्तान बेचारा सहम कर रह गया। प्रभा इकलौती लड़की थी, फिर दुजू की बीवी थी, जो बादशाह की घोड़ी से कम नहीं होती। उसके सौ-सौ नख़रे उठाता कप्तान हंसना, खिलखिलाना और मौज-मस्तियां सब भूलकर रह गया।

चार साल में कप्तान को दो बेटे और एक बेटी देकर प्रभा ने धन-संचय की ओर ध्यान लगाया। सोलह सालों में कप्तान के बैंक बैलेंस में रुपयों और नोटों की मोटी तह जमाकर दोनों नैनीताल घूमने

आए। कप्तान की थोड़ी सी तोंद निकल आई थी, चेहरा अभी भी मस्ताना था, पर मूंछों में अब वह ऐंठ नहीं रह गई थी, कनपटी के आसपास बाल सफ़ेद हो चले थे। दो जवान लड़कों को कमीशन मिल गया था, बेटी मिरांडा हाउस में पढ़ रही थी।

नैनीताल आकर कप्तान के दिल में एक टीस सी उठी। काठगोदाम से चलकर गेठिया दिखा और वह गुमसुम सा हो गया।

नैनीताल के ग्रांड होटल में दोनों टिके। प्रभा बोली, "चलो डार्लिंग, पहाड़ का इंटीरियर घूमा जाए। भुवाली चलें।" चिकन सैंडविच, रोस्ट मुर्ग़ पैक करवाकर उसने अपनी फ़ियट गाड़ी भुवाली की ओर छोड़ी। बग़ल में दामी चंदेरी साड़ी और बिना बांहों के ब्लाउज़ से अपने मांसल शरीर की गोरी दमक बिखेरती प्रभा बैठी। भुवाली की एक छोटी सी दुकान देखकर प्रभा ने गाड़ी रुकवा दी, "इसी दुकान में आज एकदम पहाड़ी स्टाइल से क़लई के गिलास में चाय पिएंगे हनी।" वह बोली।

कप्तान अब मेजर था, "मेजर की डिग्निटी कहां जाएगी?" वह बोला।

"भाड़ में!" कहकर प्रभा अपनी पेंसिल हील की जूतियां चटकाती दुकान में घुस गई।

काठ की एक बेंच धुएं और कालिख से काली पड़ गई थी, उसी को झाड़कर दोनों बैठ गए। पहले कुछ देर को पहाड़ी दुकानदार भौचक्क सा रह गया। लकड़ी के धुएं से एकदम काली केटली में चाय उबल रही थी।

"ख़ूब गर्म दो गिलास चाय लाओ, प्रधान।" मेजर ने पहाड़ी में कहा और दुकानदार का मुंह खुला ही रह गया। ऐसी अंग्रेज़ी में बोलने वाला अनोखा जोड़ा पहाड़ी कैसे हो गया, वह सोचने लगा।

वह चाय बना ही रहा था कि अलख-अलख करते वैष्णवियों के दल ने भीतर घुसकर दुकान घेर ली, "ओ हो गुरु, भल छा भल छा।"

कहकर वैष्णवियों के हेड ने बड़े प्रभुत्वपूर्ण स्वर में सोलह गिलास चाय का ऑर्डर दे दिया। हेड वैष्णवी बड़ी ही मुखर और मर्दानी थी, इसी से शायद मर्दाने स्वर में बोल भी रही थी, "सोचा, बामण ज्यू की ही दुकान की चाय छोरियों को पिलाऊंगी, आज एकादशी है।"

"क्यों नहीं! क्यों नहीं!" दुकानदार बोला, "अरे लाटी भी आई है?"

"अरे, कहां जाएगी अभागी?" वैष्णवी ने कहा। प्रभा और मेजर की दृष्टि एक साथ ही लाटी पर पड़ी।

कुत्सित बूढ़ी अधेड़ वैष्णवियों के बीच देवांगना सी सुंदरी लाटी अपनी दाड़िम सी दंतपंक्ति दिखाकर हंस दी। मेजर का शरीर सुन्न पड़ गया, स्वस्थ होकर जैसे साक्षात बानो ही बैठी थी। गालों पर स्वास्थ्य की लालिमा थी, कान तक फैली आंखों में वही तरल स्निग्धता थी और गूंगी जिह्वा का गूंगापन चेहरे पर फैलकर उसे और भी भोला बना रहा था।

"हाय, क्या यह गूंगी है? माई गॉड, ह्वाट ब्यूटी।" प्रभा बोली।

"हां सरकार, यह लाटी है।" दुकानदार ने कहा और मेजर के दिल पर आ गिरी भारी पत्थर की चट्टान उठ गई।

"क्या नाम है जी इसका?" प्रभा मुग्ध होकर लाटी को ही देख रही थी।

"नाम जो होगा, वह तो वह गया मीमशाब, अब तो लाटी ही इसका नाम है।" हेड वैष्णवी ने कहा, "हमारे गुरु महाराज को इसकी देह नदी में तैरती मिली। जीभड़ी इसकी कटकर कहीं गिर गई थी। राम जाने कौन था वह! गले में चरयो (मंगलसूत्र) था, ब्याह हो गया होगा। फिर हमारा गुरु महाराज इसको गुरुमंतर दिया। भयंकर 'छे रोग' था। एक-एक सेर खून उगलता था, पर गुरु का शरण में आया तो सब रोग-सोग ठीक हो गया इसका। लाटी, जीभ दिखा।"

धूं-धूं कर लाटी ने भुवनमोहिनी हंसी हंस दी, जीभ नहीं दिखाई।

"कुछ नहीं समझती साली। बस खाती है ढाई सेर, सब भूल गया, हमारा ऑर्डर भी नहीं मानता।" असंतुष्ट स्वर में मर्दानी वैष्णवी बोली।

"ओह माई गॉड! अपने आदमी को भी भूल गई क्या?" प्रभा बोली।

"जो था सो था, इसको कुछ याद नहीं। ख़ाली 'फिक-फिक' कर हंसती है हरामी। अब परभू इसका मालिक और परभू इसका सहारा है। हां, गुरु कितना पैसा हुआ?"

हेड वैष्णवी ने पैसे चुकाए और उसका दल अलख बजाता उठ खड़ा हुआ। लाटी बैठी ही रही, मेजर एकटक उसे देख रहा था। यह वही बानो थी, जिसे डॉक्टर दलाल और कक्कड़ जैसे प्रसिद्ध विशेषज्ञों की मृत्युंजय औषधियां भी स्वस्थ नहीं कर सकी थीं।

"उठ साली लाटी!" हेड वैष्णवी ने हल्की सी ठोकर से लाटी को उठाया। एक बार फिर अपनी मधुर हंसी से मेजर का हृदय बींधकर लाटी उठी और दल के पीछे-पीछे चल दी। काश उसके भोले चेहरे से गाल सटाकर मेजर कह सकता, "मेरी बानो, बन्नी, बन्नू!" शायद उसकी गूंगी ज़बान के नीचे दबी उसकी गूंगी पिछली ज़िंदगी बोल उठती।

पर मेजर, ज़िंदगी की दौड़ में बहुत आगे निकल आया था, पीछे लौटकर बिछुड़े को लाना सबसे बड़ी मूर्खता होती। दो जवान बेटे और बेटी, राष्ट्रपति के सहभोजों में चमकती उसकी शानदार दूसरी बीवी, ग़रीब, गूंगी लाटी का आना कैसे सह सकते?

"उठो डार्लिंग, लंच गर्म पानी में करेंगे।" प्रभा ने कहा और मेजर उठ खड़ा हुआ। कुछ ही पलों में वह बूढ़ा और खोखला हो गया था।

बानो मर गई थी। अब तो वह लाटी थी। परभू अब उसका मालिक और परभू ही उसका सहारा था।

7

जयंती जेड़जा

दिद्दी और उसकी बड़ी बहन—जयंती—एक-दूसरे के बहुत करीब थे। दोनों का स्वभाव मौलिक रूप से भिन्न होते हुए भी एक सा था, और दोनों की कल्पना शक्ति, उदारता और प्रतिभा अनोखी। हर साल, हम छुट्टियों में मुक्तेश्वर—जहां जयंती जेड़जा और उनके डॉक्टर पति रहते थे—जाते थे। जेड़जा का अर्थ कुमाऊंनी में बड़ी मां होता है, और हमेशा हमारा रिश्ता इस मौसी से ऐसा ही रहा। आजकल नैनीताल से मुक्तेश्वर का रास्ता महज़ डेढ़ दो घंटे का है, लेकिन तब हमको बस में वहां पहुंचने में तीन-चार घंटे लग जाते थे। तब की बसें भी आज की जैसी कहां होतीं थीं और उन घुमावदार सड़कों पर डीज़ल का धुआं खाते, उल्टी करते जब हम मुक्तेश्वर पहुंचते थे तो आधी जान रास्ते में ही निकल जाया करती थी। यही कारण था कि जेड़जा नैनीताल बस से कभी न आती। जब कभी उसे आना पड़ता था—क्योंकि उसके दोनों बेटे हमारे साथ रहकर तब पढ़ रहे थे—तो वो एक पूरा कारवान लिए, अपनी निजी डांडी में आती थी। उसके इस रंगीले कारवान का हमें बेसब्री से इंतज़ार होता था, क्योंकि उसके पहुंचते ही लगता था हमारे घर कोई चलता-फिरता सर्कस आ गया है।

पहुंचते ही, जेड़जा अपने भीमकाय टिफिन कैरियरों से तरह-तरह के पकवान और मिठाइयां निकालती। मुक्तेश्वर में उसकी हाइब्रिड ऑस्ट्रेलियन गायों का दूध प्रसिद्ध था। उन्हीं के दूध व छेने से बने वो मिष्टान्न मुझे अभी तक याद हैं —संदेश, चमचम, रसगुल्ले, रबड़ी। साथ में होते नाना प्रकार के अचार व मुरब्बे

जो उसके अपने वग़ीचे के फलों से बने होते। रात को हम उसके पलंग से सटकर उससे कितनी कहानी-क़िस्से सुनते। क्या कहानियां थीं वो! भूत-प्रेतों की, जादुई कछुओं की, ऐसे रहस्य जो कोई कनफटा जोगी जेड़जा को मुक्तेश्वर आकर सुना गया था। वीच-वीच में जेड़जा गुजराती या वंगाली में गाने गाके हमें इन रहस्यमयी, तिलस्मी कहानियों से इतना मोह लेती थी कि हमारी आंखों से नींद ही ग़ायव हो जाती। कहानी सुनाने का उसे ऐसा वरदान था कि उसकी हर कहानी पर—चाहे वो कितनी ही अजीव हो—हमें पूर्ण विश्वास होता था। मिकी उसका सबसे प्रिय बच्चा था और जेड़जा का कहना था कि पिछले जन्म में वे दोनों एक दिव्य बगुला-बगुली का जोड़ा थे और किसी ताल में चोंच से चोंच मिलाकर रहते थे। तभी तो इस जन्म में उसने मुक्तेश्वर महादेव से प्रार्थना कर मिकी का जन्म अपनी वहन के घर में करवाया था। मिकी हमेशा उसे वगुली कह के पुकारता था और अंत तक जेड़जा उसे वगुला कहती थी। मतलब, जेड़जा अनोखे क़िस्से-कहानियों का एक ऐसा भंडार थी जिसे कोई दिनभर सुनकर भी न थकता।

प्रायरी लॉज में जेड़जा के रंगीन कारवान के आते ही पूरे घर का वातावरण ही बदल जाता था। वावू के शासन के कई कठोर नियम अचानक उड़नछू हो जाते। हमें पलंग पर खड़ा होना, सुवह के समय उपन्यास पढ़ना, कॉमिक्स या प्रेमकथाएं पढ़ना, ज़ोर से दरवाज़े भेड़ना, सीढ़ियों पर धड़धड़ाके चलना, फ़िल्मी गाने सुनना व गिट्टी या ताश खेलना मना थे क्योंकि वावू को इन सवसे नफ़रत थी। जेड़जा के साम्राज्य में किसी वात की मनाही न थी। उसके वच्चे मन आने पर नहाते, विस्तरे में घुसकर ठाठ से उपन्यास पढ़ते और उन्हें कोई न टोकता! जेड़जा के आने से हम भी वावू के नियम तोड़ने की धृष्टता करने लगते। जव जेड़जा हमें अपने साथ लिटाकर कहानियां सुनाती तो वच्चों के कमरे में कभी न आने वाले वावू भी वहां किसी न किसी कारण टपक पड़ते। खाना तव लगता जव जेड़जा की कहानियों में कमर्शियल ब्रेक होता और वावू कुछ न कहते! जेड़जा के साथ आए नौकरों को नीचे की मंज़िल में एक रसोई दे दी जाती थी और उनकी ऊंची आवाज़ पर वावू कुछ न कहते। हम भी

ज़ोर-ज़ोर से हंसना और दरवाज़ों को 'भट्ट' से भटकाने की जुर्रत कर लेते। दोपहर को, दिद्दी और जेड़जा अग़ल-बग़ल पलंगों पर लेटकर अपने पैर नौकरानियों से दबवाकर वतियातीं। जब उन्हें लगता कि हम उनकी कोई गुप्त वातें न सुन लें तो वे झट से गुजराती या बांग्ला में बोलना शुरू कर देतीं। उसी को सुन-सुन के हम सब थोड़ी बहुत गुजराती और बांग्ला समझने लगे।

जेड़जा को आप एक अर्थ मदर समझ लीजिए। शोख़ रंगों के कपड़े उसे बेहद पसंद थे और उसके माथे पर होता बड़ा सा रुपहला टीका, मांग में चटख़ लाल सिंदूर। उसके छोटे से पांव आलता से सने होते और साथ बजते विछिया और पायजेब। हाथों पर रंग-विरंगी चूड़ियां खनकतीं और मुक्तेश्वर वाले घर में उसके कमरे में एक ख़ास चूड़ियों का केस था जिसमें तरह-तरह की चूड़ियां सजी थीं। रोज़ वो अपनी चूड़ियां बदलती थी। मुक्तेश्वर में कोई बाज़ार न था, इसलिए जेड़जा डाक से अपने लिए तरह-तरह के तेल और इत्र मंगवाती रहती। उसे स्वयं आयुर्वेद का अच्छा ज्ञान था और न जाने कितने अजीब नामों के तेल-फुलैल बनाती रहती। एक का नाम मुझे अभी भी याद है: कृष्ण मस्ताना तेल। ये उसने अपने पति—जिनका नाम था कृष्णचंद्र—को रिझाने के लिए बनाया था और उसमें से चमेली की ख़ुशबू आती थी। जेड़जा के हाथ-पांव बहुत नाजुक थे, पर शरीर गदराया सा, और उसमें से एक अद्‌भुत ऊर्जा निकलती थी। उसे हर काम में गहरी दिलचस्पी और लोगों के जीवन में बहुत रस आता था। इतना निष्कपट स्वभाव मैंने बहुत कम लोगों में देखा है। परिवार के हर सदस्य को उसका भरपूर प्यार मिला और अपने बच्चों और पति पर तो उसका विशेष प्रेम न्योछावर था। अपने पति के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करने में उसे किसी प्रकार की हिचक न थी और क्योंकि हमने अपने घर में ये कभी नहीं देखा था, मुझे उनका आपसी प्रेम कभी नहीं भूलता। दिद्दी और बाबू का रिश्ता बहुत फरक था इसी से जेड़जा का अपने पति को 'डियर' या 'डार्लिंग' कह के पुकारना हमें अजीब लगता था। रात को अक्सर जेड़जा अपने पलंग से उनके पलंग में सोने चली जाती, चाहे उसके पास हमेशा कोई न कोई बच्चा एक गर्म पानी कै थैली की तरह, सोया होता।

उसका मुक्तेश्वर वाला घर हम बच्चों के लिए एक परियों के देश सा था। जेड़जा की लायब्रेरी में सैकड़ों किताबें थीं और किसी को कोई भी किताब पढ़ने की मनाही न थी। इनमें से कई ऐसी थीं जिन्हें जेड़जा कसून की पुरानी लायब्रेरी से कीड़ों से बचाने के लिए यहां ले आई थी। बैठक की दीवारों पर अनेक तस्वीरें थीं जिनमें कसून के समस्त परिवार को फ्रेम करके मढ़ा गया था। घर के सारे दरवाज़े खिड़की गहरे हरे रंग के थे और जेड़जा का टेस्ट बैठक की अनोखी सजावट में स्पष्ट दिखाई देता। कुछ ऐसी घड़ियां और पेंटिंग थीं जिन्हें हमारे मौसाजी ने उन अंग्रेज़ परिवारों से ख़रीदा था जो **1947** के बाद अपने मुल्क लौट रहे थे। उनके बग़ल में सजीं होतीं जेड़जा द्वारा एकत्र करी अजब-अजब चीज़ें—पुरी से लाया शंख, भोपाल से ख़रीदी कोई गुड़िया, किसी तिब्बती लामा से कभी लिया एक सुंदर ग़लीचा। बच्चों के कमरे में थीं बड़ी सी पीतल की स्प्रिंग लगी पलंगें जिन पर हम कूदते थे, और खिड़कियों पर लटकते झालरदार पर्दे। न जाने घर में कितनी बिल्लियां थीं और कितने नौकर! एक सेवक था लोहनीजी का बड़ा बेटा, ख़्याली, जिसकी आंखें नीली थीं और जो अक्सर हमसे अंग्रेज़ी में बात करके हमें चित्त कर देता। एक बार, दिद्दी शीशे के सामने जब तैयार हो रही थी, कहीं से आके उसने चुपचाप उससे कहा था, "वैनिटी, दाय नेम इज़ वुमन!" ख़्याली का मुख्य काम था पानों को तराशना—नित्य सामने के बरामदे में बैठकर वो घंटों पानों को तराशकर उन्हें गीले कपड़े में रखता जाता। हमारे मौसाजी, किशन भिनज्यू पान खाने के बहुत शौकीन थे और हर हफ़्ते उनके लिए बनारस से एक ढोली बढ़िया बनारसी पान आते थे। दिद्दी बताती थी कि वे कभी बहुत ठसकेदार साहबी तबीयत के इंसान थे लेकिन जेड़जा से शादी के बाद वो भी उसके रंग में रंग गए। अपने साहबी सूट-बूट छोड़ वे खादी के भगुवा कपड़े पहनने लगे लेकिन जेड़जा ने उनके लिए तरह-तरह के कपड़े बनवा दिए, जिनमें शिफ़ॉन के कुर्त्ते भी थे! ख़ुद जेड़जा शोख़ रंगों की साड़ियां और फूलदार ब्लाउज़ पहनती, कभी शकुंतला छाप कंचुकी कभी सांथाल कट चोली! उनके कमरे में केसर और कस्तूरी की मादक ख़ुशबू आती थी जो किशन भिनज्यू के ज़र्दे और किमाम का कमाल था।

हर साल गर्मियों में, जेड़जा का घर मेहमानों से भर जाता था। उनमें से कुछ हमारी तरह परिवार के सदस्य थे, कुछ शांतिनिकेतन के ज़माने के उसके दोस्त और कुछ होते दोस्तों के दोस्त। जेड़जा तरह-तरह के व्यंजन बनवाती, कहानियां गढ़ती और लोगों के आपस में रिश्ते जोड़ती। हमारे छोटे मामा राजा का कहना था कि जयंती के मुख्य इंट्रस्ट थे—सेक्स और समोसा, रेप और राधाबल्लभी। एक साल किसी ने पुष्पेश मुक्तेश को एक टेपरिकॉर्डर भेंट कर दिया। 60 की दशक में हम सबके लिए ये एक नया यंत्र था और पुष्पेश और मृणाल बच्चों के कई नाटक लिखकर उनको टेप करते। शाम के समय जब इन्हें लोगों को सुनाया जाता तो हंस-हंस के पेट में बल पड़ जाते। शायद अभी भी वो कहीं खोजने पर मिल सकें। घर के सामने एक लंबा बरामदा था जिसकी छत से एक बड़ा सा झूला लटका रहता, शायद जेड़जा ने उसे अपने गुजराती छुटपन की याद में बनवाया था। उस पर झूलकर धूप में किताब पढ़ने के लिए हम सब मर मिटते थे। आमा की तरह, जेड़जा घर से बाहर कहीं नहीं जाती थी लेकिन पूरे शहर की ख़बरें उसे पता रहतीं। बच्चों से, नौकरों से और घर में आते-जाते लोगों से उसे न जाने कितनी कहानियां व मसालेदार ख़बरें मिलती रहतीं थीं और हर रात, खाने की मेज़ पर बैठकर, वो उन्हें रस लेकर सबको सुनाती। कौन किसके साथ 'फंसा' है, किसके घर बच्चा होने वाला है, किसने किसकी लड़की भगा ली—ऐसे प्रसंग जो लोग आमतौर पर बच्चों के सामने कहने से कतराते हैं, जेड़जा हम सबको आराम से सुनाती। ऐसे किस्से-कहानियों के सामने तो अख़बार भी फीके पड़ जाते और शायद ये उसी का सिखाया सबक है कि हम सबकी नज़र स्वत: ऊटपटांग बातों की ओर आकर्षित हो जाती है।

मुक्तेश्वर का सरकारी प्राइमरी स्कूल बहुत छोटा था, गांव के बच्चों को बेसिक शिक्षा देने लायक। इसलिए जब तक वे विश्वविद्यालय जाने के लायक न हो गए, जेड़जा ने अपने बच्चों को घर पर ही पढ़ाया। जब समय आया तो पुष्पेश व मुक्तेश हमारे पास नैनीताल आ गए थे। इस अनोखी शिक्षा प्रणाली का नतीजा ये हुआ कि पुष्पेश महज़ 21 साल की उम्र पर ही अपनी पीएच.डी. हासिल कर चुका था और उसे इसके फ़ौरन बाद जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

में नौकरी मिल गई थी। जहां दिद्दी और बाबू हम सबकी पढ़ाई का बहुत ध्यान रखते थे, ख़ासकर इम्तेहानों पर, जेड़जा के बच्चों को इम्तेहानों से कभी डर नहीं लगा क्योंकि स्कूल में उन्होंने इस हऊए का कभी सामना किया ही नहीं था। पुष्पेश व मीनू अंग्रेज़ी और संस्कृत में पारंगत थे और हम भाई-बहन उनके इस भाषा ज्ञान से बेहद प्रभावित रहे। मैं इन दोनों की हर बात की नकल करती थी, ख़ासकर उनके पढ़ने की क्षमता की। नतीजा ये हुआ कि बारह साल की उम्र तक मैंने ढेर सी किताबें पढ़ लीं, चाहे वो मुझे समझ आती थीं या नहीं। इनमें एल्डुअज़ हक्सले से लेकर पर्ल बक तक सभी लेखक शामिल थे। स्कूल में अपने दोस्तों के बीच अपनी शेख़ी झाड़ने में मुझे बहुत आनंद आने लगा क्योंकि किसी ने अभी तक ऐसी किताबें न पढ़ीं थीं।

मुक्तेश्वर से जेड़जा का परिवार उनके पति के अवकाश पाने के बाद भवाली में बस गया। वहां एक सुंदर सी कॉटेज में वे रहने लगे, जिसका नाम 'द हर्मिटेज' रखा गया। हर साल, जब हम अल्मोड़ा जाते मेरे बच्चे भवाली पर जेड़जा से बिना मिले आगे जाने को राज़ी न होते। मुक्तेश भवाली में अपने मां-बाप के साथ रहता था और हमें बहुत प्यार से मिलता। मुक्तेश ने ज़िंदगी भर कभी कोई नौकरी न की और अक्सर भवाली पहुंचने पर वो हमें बिस्तरे में पड़ा, किताब पढ़ता हुआ मिलता। किसी ने कभी न उससे न जेड़जा से ये पूछा कि आख़िर उसकी शादी क्यों की गई थी या उसका निर्वाह कैसे होगा। जेड़जा से ऐसे सवाल पूछना निरर्थक था। हमारे बच्चों को जेड़जा अपना घर उसी उत्साह से दिखाती जिस तरह उसने हमें बचपन में मुक्तेश्वर का घर दिखाया था और तरह- तरह के किस्से-कहानियां सुनाकर उन्हें उसी तरह मंत्रमुग्ध कर लेती जैसे वो हमें अपने कहानियों के मायाजाल में बांध लेती थी। जब हमारे जाने का समय आता तो झट से अपने बग़ीचे के कद्दू—जिसे वो कुष्मांड कहती थी—तोड़कर वहां के विभिन्न आत्मीय स्वजनों के लिए हमारी गाड़ी में ठूस देती। साथ में होते वही अचार-मुरब्बे जो वो हमको बचपन में खिलाती थी।

एक साल, जब हम भवाली पहुंचे, तो वो एक विशाल ड्रम में कमर तक डूबी, ऊपर-नीचे कूदकर नाच सा कर रही थी। हमें देखते ही उसने दूर से

हाथ हिलाकर हमारा स्वागत किया, और मेरे बच्चे आगे-आगे दौड़े ये देखने के लिए कि आख़िर जेड़जा ड्रम के अंदर कर क्या रही है। पता चला कि वो उस दिन घर की एक बड़ी सी दरी को ड्रम में भिगोकर धो रही थी। लेकिन इतने उत्साह से कि लगता था वो किसी वाइनयार्ड में अंगूरों का रस निकाल रही है। सब बच्चों ने फ़ौरन अपने जूते-मोज़े उतार दिए और एक-एक कर कूद पड़े ड्रम में।

पुश्त दर पुश्त, जेड़जा ने हमारे परिवार के बच्चों का मनोरंजन किया और उसका, उनका मन मोहने का जादू अंत तक वैसा ही रहा।

O

नदी जो मरुस्थल में खो गई

मेरा यह मत रहा है कि किसी प्रयोजन के संस्मरण संजोने हों तो उसके जीवनकाल में ही यह कार्य करना चाहिए, किंतु हममें से कितनों की दुस्साहसी लेखनी, ऐसा कर पाती है? कहीं उस व्यक्ति की किसी दुर्बलता का उल्लेख उसे रुष्ट न कर दे, कहीं वह कुछ का कुछ अर्थ न लगा बैठे। मैं स्वयं कई बार इस प्रयोग के गर्म दूध की आंच से झुलस चुकी हूं। इसी से अब वास्तविकता का मठा भी फूंक-फूंककर पीती हूं। मेरी इसी लेखनी ने न जाने कितने आत्मीय स्वजनों से, मुझे विलग किया है।

मैं "जो कुछ कहूंगी, सच कहूंगी; सच के सिवा कुछ नहीं कहूंगी," यह कहना तो बहुत सरल है किंतु लिखना उतना ही कठिन। सत्य की कड़वी औषधि में कभी-कभी काल्पनिक शहद भी मिलाना पड़ता

है, वह मैं आज तक न कर पाई, न कभी कर पाऊंगी। शायद, यही कारण है कि इष्ट मित्रों की शाप-वृष्टि से सदा त्रस्त ही रही। मायके के लौहर्गल युक्त कपाट तक मेरे लिए सदा के लिए मुंद गए, फिर भी यह मुंहफट लेखनी, किसी अल्ट्रासाउंड की प्रखरता से एकदम अंदर छिपी व्याधि का अविकल चित्र उतारकर रख देती है। इतना अवश्य जान गई हूं कि अपनों ही पर, क़लम की गुलेल साधना, सहज नहीं होता। आज, जब बंधु-बांधवी, सहपाठी, समवयसी आत्मीयों में से अधिकांश, इहलोक में बंधन काट ऊपर जा चुके हैं, स्मृति दंश कभी-कभी दुर्वह हो उठता है।

जहां बैठकर लिख रही हूं, वहां पिछवाड़े की संकरी गली से, प्रायः ही महाप्रस्थान के यात्री, चार कंधों पर हुलसते जाते हैं। पिपराघाट के श्मशान को यही सड़क जाती है। अभी-अभी एक भाग्यवान गुज़रा है, 'राम नाम सत्य है, सत्य बोलो सत्य है।' यह सत्य किसी को झकझोर दे, ऐसा हो ही नहीं सकता–मन अचानक अशांत हो गया। सामने गुलमोहर का लाल-लाल फूलों से लदा वृक्ष, कामोन्मत्त वृषभ सा मस्ता रहा है। आषाढ़ आधा बीत गया है, बाहर सामान्य वर्षा ने तप्त धरणी की प्यास ऐसी बढ़ा दी है कि धरित्री निर्धूम अग्निकुंड बनी, आग फूंक रही है–मुझे, इस वर्षा सिक्त धरणी की सौंधी महक, आज अनायास ही उस चेहरे की स्मृति में आकंठ डुबो रही है जिसके पास बैठकर, कभी मेघदूत पढ़ा था–

धूम्रज्योतिः सलिलमरुता सान्निपातः क्व मेघः।

हम सात बहनों में वयः ज्येष्ठा थी जयंती। इस वर्ष उसकी बीमारी का समाचार सुन उससे मिलने गई तो वर्षों पूर्व उन्हीं से पढ़े शिवपुराण की चेतावनी स्मरण कर आंखें भर आईं। आंखों में जमकर ठहर गया पानी, कानों की पलट गई लोड़ियां, किंचित तिर्यक् बनी नासिका। समझ गई कि 'दिवस का अवसान समीप था।'

कहां गई वह भरी-भरी देह, वह पीतवर्णी आभा, तेजोदृप्त कंठस्वर? मुझे बांहों में भर, वह रोने लगी, वह जिसे मैंने कभी किसी के सामने रोते नहीं देखा था। शायद, वह जान गई थी कि यह दोनों बहनों का अंतिम आलिंगन है, विच्छेद की भूमिका। मेरे क्षुब्ध चित्त में, विक्षोभ का तूफ़ान उठ रहा था। अपराधी चित्त, बार-बार पानी में भीगे चाबुकी अदृश्य मार से, मुझे आहत कर रहा था। न जाने कितनी बार, मैंने उसके हृदय को दुखाया है, छात्र जीवन में अपनी अबाध्यता से उसे विचलित किया है। और आज तक, कभी क्षमा नहीं मांग पाई। आज आई हूं, जब दीपशिखा बुझ चुकी है, केवल क्षीण अवसन्न धूम्ररेखा प्राणों का संकेत बनी रह गई है। उसने मेरे सिर पर हाथ फेरा, वह अब अपने को संयत कर चुकी थी, खिसियाए स्वर में बोली, "पता नहीं क्यों, आजकल ऐसा ही गह्वर आ जाता है, कैसी है तू?" एक हाथ मेरी पीठ पर था, दूसरा शिथिल लता सा, पलंग के नीचे झूल रहा था—हाथ का कंकण, न जाने कब बांहों का अनंत बन गया था।

मोतियाबिंद से लगभग दृष्टिहीन आंखें, जितनी ही बार मुझे निकट से देखने की चेष्टा कर रही थीं, उतनी ही बार यत्न से रोकी गई रुलाई मेरा कंठ अवरुद्ध कर रही थी। फिर उसने एक दीर्घ निश्वास लेकर दोनों हाथ छाती पर धर, आंखें मूंद लीं। पहले भी जब कभी वह ऐसी ध्यानस्थ हो जाती, तो उसका मुख-मंडल एक दैवी तेज से दीप्त हो उठता था। लगता था साक्षात वाग्देवी ही आविर्भूत हो गई हैं। उसका वैदुष्य ज्ञान अगाध था। कभी बनारस विश्वविद्यालय ने उसे साहित्य मनीषिणी की उपाधि से विभूषित किया था, जीवन में तब ही उसकी प्रतिभा का उचित मूल्यांकन हुआ था। बचपन से ही, पितामह के साथ रह संस्कृत की घुट्टी पी, अनेक भाषाएं सीखीं—गुजराती, बांग्ला, मराठी, उर्दू, हिंदी, अंग्रेज़ी, संस्कृत-प्राकृत,

पाली। शांतिनिकेतन में चीनी भाषा सिखाने प्रो. तान जैसे स्नेही गुरु मिले। संस्कृत तो जैसे उसकी मातृभाषा थी। हिंदी-अंग्रेज़ी लिखती तो मोती से अक्षर, सांचे में ढले निकलते। वृद्धावस्था में वे ही मोती बिखर गए, टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में लिखे उसके पत्र पढ़ती तो कलेजा कसमसा उठता। आंखों से ठीक से दिखता नहीं था, पढ़ने ही में उसके प्राण बसते थे, वही छूट गया। कहानी लिखना न छोड़ा होता तो आज हिंदी की शीर्षस्थ लेखिका होती, जैसे ही भाषा वैसे ही भाव। पता नहीं क्यों स्वयं ही इस विधा से उदासीन हो गई। 'चांद' में 'हंस' में कई कहानियां छपीं—'शराबी,' 'ठाकर की रोमा।' एक कहानी कलकत्ता विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी आई, किंतु न जाने क्यों, उसने स्वेच्छा से ही लिखना छोड़ दिया। पत्रों का उसके पास अमूल्य संकलन था प्रेमचंद, जैनेंद्र, रवींद्रनाथ, नंदलाल बोस, एलिस बोर्नर, आचार्य कृपलानी, मालवीय जी, बलराज साहनी। काश, उसकी मृत्यु से पूर्व मैंने उसकी वह अमूल्य निधि बटोर ली होती। हजारीप्रसाद जी के तो न जाने कितने पत्र थे उसके पास—गुरुदेव के बनाए चित्र, जिनके लिए पहाड़ी रंगों को, जयंती ने स्वयं अमर-कोश के वनौषधि पर्व से पढ़ जंगली फूलों को ढूंढ़-ढूंढ़कर तैयार किया था। गत वर्ष 'देश' पत्रिका में प्रकाशित रवींद्रनाथ के एक पत्र में उनकी अपनी प्रिय छात्रा जयंती का उल्लेख था कि कैसे उसने हरिद्रा, खदिर, पलाश, बुरुश से अभिनव रंग बनाए थे। मैंने तत्काल काटकर कटिंग जयंती को भेज दी। जब मिली तो मैंने पूछा, "कटिंग मिली?"

'हां, मिली तो थी, मैंने सिरहाने रख दी थी कि फ़ुर्सत में पढ़ूंगी—पता नहीं कहां चली गई—क्या लिखा था?'

उसका सिरहाना भानुमती का पिटारा था। दाड़िम, अख़रोट के दाने, खांड के खिलौने, पुड़ियों में रखे पहाड़ी मसालों—जंबू 'गंध्रैणी' कस्तूरी के बीड़े। हमारे बचपन की तस्वीरें, दिवंगत जीजाजी का रूमाल।

उस बहुरंगी भीड़ में भला रवींद्रनाथ के पत्र की क्या बिसात?

अपनी प्रतिभा का मूल्य जयंती स्वयं कभी नहीं आंक पाई। उसे तो आंका था गुरुदेव ने, आश्रम के गुरुजनों ने, हजारीप्रसाद जी ने, जो कहते थे—"कभी मेरी क़लम की उत्तराधिकारी जयंती ही होगी।" गुरुदेव ने उसका नाम रखा था, 'भारत माता'। आश्रम में उसकी खिल्ली उड़ाई जाती। ख़द्दर की मोटी-मोटी साड़ियां बांधती है, वह भी कितनी ऊंची। सिर ढांपती है, नीची आंखें किए चलती है, किसी से अनावश्यक बात नहीं करती—गुरुदेव के अनन्य स्नेह ने ही उन्हें अहंकारी बना दिया है आदि-आदि, किंतु बात ऐसी नहीं थी। अहंकार से तो वह कोसों दूर थी—यद्यपि अहंकार करने को उसके पास बहुत कुछ था। रंग हम सबसे दबा होने पर भी यौवनावस्था में उसका आकर्षक व्यक्तित्व कैसा था यह वही बता सकते हैं जिन्होंने उसे तब देखा था।

इंटर किया ही था कि दनादन रिश्ते आने लगे, किंतु वह बहुत पहले ही आजन्म कुंआरी रहने की घोषणा कर चुकी थी। उसकी ज़िद को सब जानते थे, फिर भी मां ने लाख समझाया, "देख, ऐसे रिश्ते बार-बार नहीं आते, इतना अच्छा घर-वर फिर कहां मिलेगा—तू अठारह की हो गई है, तेरी बड़ी बहन तो चौदह वर्ष में ही मां बन गई थी—लड़का आई.सी.एस. की परीक्षा देने विलायत गया है...।" पर जयंती का मुंह से छूटा 'नहीं' ब्रह्म वाक्य था।

उधर उसके एक प्रशंसक जिन्हें तब लॉर्ड कहा जाता था, हमारे गृह की निरंतर परिक्रमा किए जा रहे थे। एक दिन हम गर्मी की छुट्टियों में घर आए तो देखा, बढ़िया ट्वीड का ओवरकोट पहने, मुंह में सिगार लगाए, लार्ड सीटी में कोई अंग्रेज़ी धुन गुनगुना रहा था। उसके, दुस्साहस से जयंती के तनबदन में आग लग गई। कहने लगी, "देख तू मेरा एक काम करेगी, तो पांच रुपए दूंगी—" इन दिनों उत्कोच की वह राशि पर्याप्त थी—"कहो"।

—"देख, कल जब यह पट्ठा खड़े होकर सीटी बजाए, तो दीवार पर चढ़ तू इस बुलबुलिया के, इन ब्रिलैंटीन की ज़ुल्फ़ों पर पिच्च से थूककर कह, 'जा भाग, मेरी बहन ने कहा है, वह तुझसे कभी शादी नहीं करेगी...'"

दूसरे दिन संध्या प्रगाढ़ होते ही कृष्ण की बंकिम मुद्रा में खड़ा हो लॉर्ड सीटी बजाने लगा। मैं दीवार पर बैठी बड़ी देर से, थूक का गोला बना रही थी। मुझे देख, भावी साली के रूप में उसने बड़े मोहक स्मित से मेरा स्वागत किया। बड़ी देर से मुख में संचित थूक प्रक्षेपण में, मैंने फिर विलंब नहीं किया। मेरा अचूक निशाना पल भर में, उन यंत्र से संवरी ज़ुल्फ़ों का संतुलन विकृत कर बैठा।

—"जा भाग, मेरी बहन ने कहा है वह तुझसे शादी नहीं करेगी।"

एक पल को कुमाऊं का वह तत्कालीन सर्वाधिक चर्चित गबरू जवान, हतप्रभ रह गया, फिर हवा में वेग से बगटुट भागा। इसके बाद वह फिर कभी हमारी दहलीज़ पर नहीं दिखा बहुत दिनों, सुमित्रानंदन पंत ने अपने कहानी-संग्रह 'पांच फूल' में लॉर्ड के उस व्यर्थ प्रणय-निवेदन पर एक कहानी भी लिख डाली। मुझे पुरस्कार तो तत्काल मिल गया, किंतु अपनी उस अशिष्टता के लिए मैं आज तक अपने को क्षमा नहीं कर पाई।

जयंती अपने निश्चय पर अडिग थी। इस बीच वह एफ़.ए. कर, आश्रम में पढ़ाने लगी थी, वॉर्डन भी बन गई थी। उसका अधिकांश समय, उत्तरायण में ही गुरुदेव के पास बीतता, वे स्वास्थ्य लाभ को मसूरी जाते या अल्मोड़ा, जयंती अवश्य उनके साथ जाती। गांधी जी आए तो जयंती को ही उनकी अगवानी के लिए चुना गया। प्रसिद्ध छायाकार शंभु साहा की ली गई वह तस्वीर, दर्शनीय थी। जयंती का सहारा लेकर कार से उतर रहे बापू, बा और काली टोपी पहने किंचित

झुके खड़े गुरुदेव।

मैंने गत वर्ष पूछा—"वह तस्वीर है क्या? या वह खो दी?"

"पता नहीं कौन एल्बम से निकाल ले गया।"

"और दार्जिलिंग से तुझे लिखी गुरुदेव की वह कविता?"

"वह भी न जाने कहां गई?"

मुझे कभी-कभी उस पर बड़ा गुस्सा आता, कैसी-कैसी अमूल्य वस्तुएं खो दी थीं उसने। और कोई होता तो जीवन भर उन्हें भुनाता रहता। केवल गुरुदेव का बनाया एक चित्र, जो उसी के बनाए रंगों से बना था, अंत तक उसके सिरहाने टंगा था।

बंगला में—"जयंती के—रवींद्रनाथ।" (जयंती को, रवींद्रनाथ)।

देखा जाए तो वह सच्चे अर्थ में एक सच्ची समर्पिता समाजसेविका थी। न जाने कितनों को पढ़ाया। कितने कन्यादान किए। पति डॉक्टर थे। मुक्तेश्वर में दर्शनीय बंगला था, फूलों से भरा उद्यान, सिखे-पढ़े बीसियों नौकर, जयकिशन, बिशनदत्त, दौलत, सलीम। दो-दो ऑस्ट्रेलियन गायें हथिनी सी खड़ी रहतीं—दूध दही इतना, कि पूरे मुक्तेश्वर में बांटा जाता। कोई भी गर्भवती महिला, वहां आकर जी भरकर धारोष्ण दुग्ध पान कर सकती थी। रसगुल्ले और संदेश स्वयं अपने हाथों बनातीं, वह भी ऐसे कि कलकत्ता के भीमनाग, बाम्बाजारी हलवाई लोहा मान जाएं। उस पर मुफ़्त का इलाज और मुफ़्त की दवा।

एक बार किसी घसियारे की नाक भालू ने चबा दी। साहसी घसियारे की पत्नी, पति और जेब में उसकी कटी नाक लेकर, रात दो बजे हमारे द्वार पर खड़ी हो गई—मैं भी उन दिनों बहन के पास छुट्टियां बिताने आई थी। माघ का महीना और दनादन बर्फ़ के ग़लीचे बिछते जा रहे थे। ऋतु कलेवरी देवद्रुम दियासलाई की तीलियों से, तड़ाक-तड़ाक कर गिरे जा रहे थे। उस पर बिजली भी चली गई थी। बाहर निकलना ख़तरे से ख़ाली नहीं था।

उस नासिकाविहीन, अर्धमूर्च्छित घसियारे की पत्नी ने, जयंती के पांव पकड़ लिए, "डॉक्टरनी ज्यू हो, किसी तरह मेरे घरवाले को बचा लो।" रक्तरंजित, नासिकाविहीन उस बड़े-बड़े हबड़े दांत वाले वराहदंती अतिथि को देख, मैं डर से कांपती भीतर भाग गई। देखते ही देखते बरामदा ख़ून से भर गया। लग रहा था अभागे के शरीर का पूरा ख़ून नासिका गह्वर से बहता चला जा रहा था।

जयंती भीतर गई, जीजाजी से कहा तो वे भड़क गए—'इतनी रात को अस्पताल और फिर मैं क्या छुट्टी पर नहीं हूं? कह दो डॉ. सेन के पास जाए, आजकल वे ही मेरा काम देख रहे हैं।'

"कैसी बात करते हो। तुम छुट्टी पर हो या न हो, तुम्हें उसे ले जाना ही होगा।" जयंती भी अड़ गई।

"अरे, सुबह ले चलेंगे, बर्फ़ देख रही हो? अभी दौलत के कमरे में सुला दो—"

"मैं तुम्हारे साथ रहूंगी—फिर, दौलत अपने कमरे में क्या परिंदे को भी घुसने देता है?"

ठीक ही तो कह रही थी। दौलत हमारे मायके का नकचढ़ा नौकर था। पच्चीस वर्ष तक हमारे घर की दीवारें कंपाता रहा। जब मां का गलग्रह बन गया तो उसे जयंती के पास भेज दिया गया। अपने जनाना लटकों-झटकों के कारण, वह पूरे शहर में चर्चित था। अपनी धोती का ही पल्ला वह सिर पर डाल लेता और कमर को झटककर ऐसे चलता कि लोग मुंह छिपाकर हंसने लगते। मेरे बड़े भाई ने उसका नाम रख दिया था, 'दमयंती,' किंतु दमयंती का क्रोध भयंकर था। दमयंती से साक्षात दुर्वासा बना दौलत जयंती की रसोई का एकछत्र सम्राट था। व्यंग्य बाण छोड़ने में ऐसा निपुण कि चोट सीधे मर्मस्थल पर होती। एक दिन जयंती की पार्कर क़लम खो गई। किसी बच्चे को भेजा गया कि जा दौलत से पूछ आ, कहीं मेरी क़लम तो नहीं देखी!

वह रसोई में रोटी सेंक रहा था–पूछा तो बोला, "हां कह दो दौलत रोटियों पर दस्तख़त कर रहा है!"

वही दौलत क्या उस अनजान नकटे को अपने कमरे में सुला सकता था। बहरहाल रात को ढाई बजे उसी माघी विभावरी में, मैं, जयंती, जीजाजी, घसियारिन, किसी तरह राम-राम जपते अस्पताल पहुंचे। न कोई वार्ड बॉय था न कंपाउंडर, मोमबत्ती जलाकर उजाला किया गया और डेढ़ गज़ शिकार टॉर्च के प्रकाश में शल्य क्रिया आरंभ हुई।

"नाक लाया है रे?" जीजाजी ने पूछा।

"हां सरकार, खलत्यून छू" (जेब में है) पत्नी ने रक्त से सनी, तिमिल के पत्ते में लिपटी नाक, तत्काल जेब से निकालकर पेश कर दी। दो-तीन घंटे शल्य क्रिया चली और नाक जोड़ दी गई। शल्य चिकित्सक के रूप में, जीजाजी की ख्याति दूर-दूर तक थी, न उस छोटे से शहर में आधुनिक सुविधाएं थीं न मृत्युंजयी औषधियां, किंतु कुछ प्रकृति का औदार्य और कुछ नियति नटी की कृपा। मरीज़ ठीक होने लगा–होता भी कैसे नहीं? प्रकृति ने बर्फ़ की चादर तह चादर बिछा, पूरा परिवेश ही इम्यून कर दिया था, फिर ज़हर भी कैसे फैलता?

दो वर्ष बाद, गई तो देखा वही कृतज्ञ मरीज़, अपनी जुड़ी नाक के नीचे दगदगाती हंसी बिखेरता, बहन के द्वार पर खड़ा। हाथ में, कार्तिकी श्वेत मधु का लबलबाता पात्र और गोघृत।

ऐसे ही एक बार उनका एक्स-रे लेने वाला कर्मचारी जुए में अपनी परम सुंदरी पत्नी को हार गया। रोती कलपती पत्नी जयंती के द्वार पर आ खड़ी हुई। "मुझे बचा लो डॉक्टरनी ज्यू, हरामी मुझे जुए में हार आया है, कुल तीन हज़ार में। निर्लज्ज पिटा जुआरी खड़ा-खड़ा टसुए बहा रहा था। जयंती ने उसे छुड़ा तो लिया पर फिर वह द्रौपदी

स्वयं ही पतिगृह नहीं गई। नर्स की ट्रेनिंग दिला, जयंती ने ही उसे नौकरी दिला दी और शायद आज भी अपने पैरों पर खड़ी होगी। उसी पर मैंने कभी कहानी लिखी थी, 'पिटी हुई गोट'। फिर आई सुजाता—बड़ी-बड़ी आंखें, छरहरी देह, सलोनी चितवन और वन्यहरिणी सी विस्फारित दृष्टि। अधेड़, दुहेजू, शराबी पति दिन-रात ढोल दमामे सा पीट-पीट कर दिन-रात ताने देता, 'बांझिन रांड, चार साल में चूहे का बच्चा भी नहीं जन पाई' वह ससुराल से भागकर भवाली, जयंती के पास आ गई। एकदम पहाड़ी वेशभूषा, काला इटैलीन का मक्खी बेल लगा सात पाट का लहंगा, क्रेप की नीली कुर्ती और कसी-मसी वास्कट। मेरी मां ने अपनी अनुभवी दृष्टि से, उसे पल भर में तौल दिया—'जयंती, विदा कर दे इसे, बहुत पछताएगी, इसके लक्षण मुझे ठीक नहीं लगते, लहंगे का नाड़ा लटकाकर चलती है—नाड़ा लटकाकर तो वेश्याएं चलती हैं।"

पर जयंती ने जो ठान ली, ठान ली। एक वर्ष में ही उसका काया-कल्प हो गया। चेहरे का लावण्य अब सौंदर्य की देहरी पर खड़ा था—काजल से चिरी आंखें, जूड़े में दाड़िम का फूल, उल्टे पल्ले की साड़ी और सधे कटाक्ष।

मैंने ही उसका नाम धरा था सुजाता। उन्हीं दिनों सुजाता फ़िल्म देखी थी और नैन-नक़्श नूतन का सा ही लगता था।

मां की भविष्यवाणी शत-प्रतिशत सही निकली। सुजाता के कांटे में पहली मछली फंसी मेरे ही मायके में। बड़े भाई का नौकर गोरा उजला गबरू जवान था। सुजाता पर ऐसा रीझा कि नित्य सब्ज़ी जलकर कोयला बनने लगी। फलतः जयंती को अपना प्रवास, समय से पूर्व ही समाप्त करना पड़ा। सुजाता तो आग लगा, दामन बचाकर बेदाग निकल गई थी पर प्रणयी नहीं बचा। एक दिन सुना उसने आत्महत्या कर ली। जयंती को आत्मीय स्वजनों, पति और बच्चों की प्रताड़ना

ने धैर्यच्युत कर दिया—फिर भी उसने सुजाता को असहाय नहीं रहने दिया। किसी सुदूर ग्राम में, ग्राम सेविका बनाकर भेज दिया। फिर एक दूसरी आई, उसके प्रणय प्रसंग भी एकाध नहीं रहे। हारकर जयंती ने क़सम खा ली—अब किसी लड़की को आश्रय नहीं दूंगी। फिर उसकी क़सम तोड़ने विधाता ने एक पगली को भेज दिया। लाख खदेड़ा गया पर वह नहीं गई—कभी गाना गाती, कभी नाचती, बरामदे में पड़ी रहती। देखने में गोरी उजली थी, किंतु पति किसी और के चक्कर में था—अपने पति की इस प्रवंचना से वह पागल हो गई। एक दिन उसने एकांत में जयंती से कहा—"सारा गहना चुरा, लंगोट बांधकर चलती हूं—हा-हा-हा!"

अभागिनियों का ऐसा विचित्र लॉकर शायद ही संसार में अन्यत्र हो। फिर एक दिन वह पगली बिना किसी से कुछ कहे, भाग गई—तीसरे दिन किसी ने काट-कूटकर, लाश सड़क पर फेंक दी थी। फिर शरण ग्रहण करने एक वीभत्स कुष्ठ रोगी आ गया—सेब के पेड़ के नीचे उसे भी शरण मिली। जयंती को मैंने समझाया—डॉ. मोज़ेज़ को तो मैं जानती हूं, कहो तो मैं अल्मोड़ा कुष्ठाश्रम में भिजवाने का प्रबंध करूं—तेरे छोटे-छोटे बच्चे हैं, जीजाजी भी बड़बड़ा रहे हैं।

"नहीं।"

उसकी समाज-सेवा आरंभ हुई, जब वह स्कूल में पढ़ती थी। हमारी मां ने बाढ़ में बह रही एक अनाथ कोली कन्या को पाल-पोसकर बड़ा किया था, नाम था पांची बाई। ग्राम के सरपंच ने ही उसका नाम, जाति बताकर उसे मां के पैरों में डाल दिया था।

पांची बाई, चौदह वर्ष की हुई तो रवींद्रनाथ की कविता की पंक्ति साकार हो उठी, 'कंटाक्षेर बे मम पंचम शर।' वह मेरी मां को 'बा' अर्थात मां कहती थी, "बा" उसने कहा, "मुझे दूल्हा चाहिए।" घर भर उसके निर्लज्ज प्रस्ताव से स्तब्ध था। जयंती उसके लिए उसी का

सा एक अनाथ, अनाम कुलगोत्र का सुपात्र ढूंढ़ लाई। 'जीवाराम'। केसरिया साफ़ा पहने, वह अम्मा के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

जीवाराम का न घर-द्वार था न नौकरी। "इसे पालेगा कैसे?" अम्मा ने पूछा तो उसने शरमाकर कहा, "अन्नदाता, तमे छो ने!" (अन्नदाता, आप तो हैं ना!)

बस फिर क्या था, पांची बाई को दान-दहेज गहना गुरिया देकर स्वयं अम्मा ने उसके पैर पूजे—बरात हमारे घर से विदा हुई और पिछवाड़े—हमारे सागर पेशे में समा गई। मथुरा की बेटी, गोकुल ब्याही। जीवाराम को ड्राइवरी सिखा, ड्राइवर बनाकर ही जयंती ने सांस ली। फिर टीकमगढ़ गए तो एक गडरिया-दुहिता, पति-परित्यक्ता ललिता पधारी। एक आंख की कानी थी इसी से पति ने छोड़ दिया था। पर हमारे साथ चार वर्ष तक रही तो रंग-रूप ही बदल गया। पति ने एक दिन मेले में देखा और मुग्ध हो गया। ललिता भी विदा हुई।

हम राजकोट में थे, जीवाराम पांची की युगल जोड़ी ने, कुछ ही वर्षों में परिवार नियोजन की ऐसी धज्जियां उड़ाई कि प्रत्येक वर्ष, एक पांची बाई की गोद में तो दूसरा पेट में। राधा बाई, पोपट भाई आदि-आदि। एक दिन जब भरे-पूरे परिवार को छोड़ जीवाराम टी.बी. की चपेट में आ स्वर्ग सिधारे, तो उसके बाद पूरा परिवार हमारे साथ रहा। कभी पहाड़ कभी बेंगलूर पूरे तीस वर्ष रहकर पांची बाई को भी सौराष्ट्र के मोह ने खींच लिया।

हमारे पिता की मृत्यु हुई तो जयंती ने पूरे गृह की बागडोर थाम ली। हमारी शिक्षा, बेंगलूर से पहाड़ की सुदीर्घ यात्रा। अब सोचती हूं, उसने कैसे यह सब किया होगा? मैं जानती थी कि एक न एक दिन वह गृहस्थी के बंधन में अवश्य बंधेगी। बहुत पहले हमारे घर आई एक विलक्षण सिद्ध भैरवी ने चावल की मूठ फेंक, लाल-लाल आंखें कपाल पर चढ़ा, मेरे प्रश्न का उत्तर दिया था—'हां-हां, तेरी बहन

शादी करेगी, अवश्य करेगी।'

वही हुआ, विवाह अचानक ही हुआ वह भी घर भर के विरोध के बावजूद। उसने स्वयं अपना वर चुना। जीजाजी सुदर्शन थे, उच्चपदस्थ चिकित्सक थे। रुचि में, पहनावे में सौ फ़ीसदी अंग्रेज़, किंतु यक्ष्मा की विकट व्याधि भोग चुके थे। उन दिनों क्षय रोग क़ा अर्थ ही था आसन्न मृत्यु, किंतु जयंती ने साक्षात सावित्री बन अपने सत्यवान को बचा लिया–गृहस्थ सुख भी भोगा, संतान सुख भी। किंतु वृद्धावस्था में जीजाजी की मृत्यु के बाद वह स्वयं जीने की इच्छा खो बैठी। फिर भी अंत तक उसकी प्राणशक्ति अदम्य थी–दिनभर रसोई में नाना पकवान बनाती, खाती, खिलाती, अचार-मुरब्बे न जाने क्या-क्या! अतिथियों से घर भरा रहता, अतिथि भी ऐसे कि "चित्त भी मेरी पट भी मेरी, अंटा मेरे बाप का।"

मेरे पास वह एक-दो बार ही आ पाई। हिंदी संस्थान का पुरस्कार ग्रहण करने आई, तो एक बार फिर वही पुराने दिन लौट आए, "याद है तुझे, याद है?"

उसके दो पूर्व परिचित बौद्ध भिक्षु गोरखपुर से, उससे खरोष्ठी लिपि के लिखे भोज-पत्र पढ़वाने चले आए और पल भर में उसने उनका संस्कृत अनुवाद कर थमा दिया। काठमांडू गई तो पशुपतिनाथ के दर्शन कर, तत्काल सुंदर श्लोक लहरी, रचकर चढ़ा आई। फिर पचहत्तर वर्ष की उम्र में जराजीर्ण देह सैकड़ों सीढ़ियां पार कर पहुंची, 'तुंगनाथ'–वहां भी उनकी महिमा में धारा प्रवाह श्लोक, पहाड़ी झरने से उसके पोपले मुंह से झरते रहे। पुजारी अवाक खड़ा देखता रहा–"धन्य हो मां सरस्वती।"

'सरस्वती नहीं हूं पुजारी जी, सरस्वती की सेविका' ऐसी विदुषी

और ऐसी प्रतिभा, किंतु रवींद्रनाथ के ही शब्दों में—जयंती रही—'जे नदी मरुस्थले हारालौधारा' (वह नदी जो मरुप्रांत में खो गई।)

मृत्यु के कुछ दिन पूर्व उसने असह्य पीड़ा सही। बीच-बीच में कोमा से डूबती-उतराती लौटती तो असहाय अनचीन्ही दृष्टि से इधर-उधर देखती। पैर सूजकर कुप्पा हो गए थे। मैं कुछ दिनों तक रुकी, फिर जब उससे अंतिम विदा लेकर चलने लगी, तो आंखें भर आईं। वह मुझे पहचान रही थी पर उसकी आंखों में अब आंसू नहीं रहे। अंतरवर्ती शोकाग्नि ने आंख के आंसुओं को शायद सुखा दिया था। आख़री बार देखा तो वह शांत, निस्पंद प्रतिमा सी एकटक छत को निहार रही थी और मेरा कलेजा फटा जा रहा था।

मुझे कभी-कभी लगता है, समय के साथ-साथ अब रिश्ते भी बदल गए हैं। जो प्रेम, हमारी पीढ़ी के भाई-बहनों में था, वैसा प्रेम इस पीढ़ी में नहीं रहा। हम लड़ते भी थे, झगड़ते भी थे, एक-दूसरे को जली-कटी भी सुनाते थे पर हममें से एक भी हमसे बिछुड़ता तो लगता था, स्वयं हमारा एक अंग विलग हो गया। आज कई परिवार मैंने ऐसे देखे हैं जो समृद्ध हैं और समृद्ध होने पर भी, पैतृक संपत्ति के बंटवारे के लिए, सांप नेवले से एक-दूसरे के ख़ून के प्यासे बन उठते हैं।

'जयंती, मैं जा रही हूं' मैंने रुंधे गले से कहा—मैं जान गई थी कि यह हमारी अंतिम भेंट है। उसकी स्थिर दृष्टि, शून्य ही में निबद्ध रही—तब क्या वह निर्मोह वैराग्य का सूत्र पकड़ चुकी थी?

सुना मृत्यु से तीन-चार दिन पहले, वह फिर अपनी स्वाभाविक अवस्था में लौट आई थी। मैं दिनभर उसके पास बैठी रही—एकांत का सुअवसर पा, वह मुझे अपने हृदय में गोपनीय कक्ष में खींच ले गई थी। मेरी छोटी बहन मंजुला, अपने पति के साथ रात-दिन उसकी सेवा में खड़ी रहती। पर उस दिन हम दोनों ही अकेली थीं। जयंती

के छोटे पुत्र पुष्पेश ने उसकी अंत तक ममतामयी सेवा की। पर उसकी नौकरी भी थी। वह काम पर जाता तो वह प्रायः अकेली पड़ी रहती—असहाय-विवश। जननी के हृदय में यत्न से छिपाए गए नासूरों पर संतान की दृष्टि पड़ती भी कम हैं। तिस पर रोग ने उसे चिड़चिड़ी बना दिया था, नवीन पीढ़ी की उदासीनता, अबाध्यता, अशिष्टता झेलती वह अवश हो गई थी।

'तूने अपनी किसी कहानी में एक बड़ी अच्छी बात लिखी है कि पुत्र की नाल दो बार कटती है, एक बार जब वह मां के गर्भ से विलग होता है, दूसरी बार तब, जब उसका विवाह होता है।' फिर, हंसकर उसने मेरा हाथ धीरे से दबा दिया।

एक वयस के बाद, वाणी लाख समर्थ होने पर भी जो नहीं कह पाती। स्पर्श अपने सामान्य दबाव से ही बहुत कुछ कह जाता है।

उस दिन उसका वह स्पर्श मुझसे बहुत कुछ कह गया था। दिनभर अकेली पड़ी-पड़ी, पुरानी बातें याद करती रहती हूं। कॉलेज की, शिलांग की, बेंगलूर की, ओरछा की, राजकोट की, याद है तुझे, अम्मा कितनी मीठी आवाज़ में गरबा गाती थी—

आज तो सपना मा मने
डोलता डुंगर दीव्याजो

(अरी आज सपने में मुझे डोलते पहाड़ दिखे)

शायद, उसके सिरहाने खड़ी मौत उसे कुमाऊं की वे ही विस्मृत गिरि श्रेणियां दिखा रही थीं, जो कभी हम अपने आंगन की ऊंची दीवार पर बैठकर देखती थीं—कामेत, नंदा देवी, त्रिशूल, बानड़ी...

मुझे उसके हृदय में गड़े एक-एक गोखरू कंटक की अभिज्ञता थी किंतु फांस को, आज तक कौन निकालकर दूर फेंक सका है? वह तो जितना निकालने की चेष्टा करो, उतनी ही गहराई में धंसती जाती है। शायद यही कसक, उसे विपरीत दिशा में खींच ले गई थी।

परनिंदा में उसे परम आनंद आने लगा था। सगे-संबंधियों ने उसकी इस दुर्बलता को जमकर भुनाया। पहले उसे ख़ूब बकाते, फिर उसकी अविवेकी बतकही में नमक मिर्च लगा, इधर-उधर फैलाते—

'वह ऐसा कह रही थी—'

'तुम्हारी निंदा करते नहीं अघा रही थी।'

'सठिया गई है, हर वक़्त खाऊं-खाऊं...'

"अरे हमेशा से ही लोगों को असील मुर्ग़ों सा लड़ाती थी, आज कौन नई बात है," आदि-आदि।

किंतु कैसा है उसका वैदुष्य। उसका अकपट हृदय कैसा दर्पण सा स्वच्छ है। वह कितनी परम करुणामयी भी तो हैं, सर्वस्व त्याग कर अपना ख़ज़ाना लुटाने वाली औघड़दानी। यह सब किसी ने नहीं देखा—अंत में उसका ख़ज़ाना एकदम ख़ाली हो चुका था। घरवाले जानबूझकर हाथ में रुपया नहीं देते थे कि लाख रुपया भी देंगे तो लुटा देगी। पूरी पेंशन तक वह पहले ही दान कर चुकी थी। एक चमत्कारी कछुआ अवश्य इसके साथ अंतिम सांस तक रहा। सत्तर वर्ष पूर्व, महासिद्ध नारद बाबा का उसे दिया गया किसी धातु का बना कछुआ।

"एक तांबे का पैसा भी इसे छुआएगी तो चांदी का रुपया बनकर, तेरे बटुए में स्वयं आ जाएगा।" उन्होंने कहा था—हम भाई-बहन भले ही उस चमत्कारी कछुए की, पीठ पीछे हंसी उड़ाते हों, लुक-छिपकर, अपना-अपना बटुआ उसके कलेवर से हम एक न एक बार छुआ ही आते थे। स्वयं, मैंने कई बार ऐसा किया और फिर मेरा बटुआ कभी ख़ाली नहीं हुआ। प्रातः छुआया तो संध्या होते-होते या रॉयल्टी या कोई साहित्यिक पुरस्कार या किसी कहानी का अप्रत्याशित पारिश्रमिक मिला अवश्य।

उसकी मृत्यु से सात-आठ दिन पहले उससे कहा—"जयंती भवाली में तेरा अपना बंगला है, चली क्यों नहीं जाती, थोड़ा बदलाव हो जाएगा, यहां दिनभर पड़ी-पड़ी सोचती रहती है। तुझसे बहुत छोटी हूं पर इतना बता दूं, आदमी को बीमारी नहीं मारती, मारती हैं यादें।"

वह हंसी, सूखे पपड़ी पड़े होंठों पर क्षण भर को तिरती वह करुण हंसी, मैं कभी नहीं भूल पाऊंगी—मेरा हाथ पकड़ उसने अपने ज्वरतप्त हाथों में दबाकर, क्षीण स्वर में कहा—

सर सूखे पच्छी उड़ै औरे सरन समाय।
दीन मीन बिन पच्छ के कहु रहीम कहं जाय।।

8

हामिद भाई

जैसे-जैसे मैं दिद्दी की लिखी कहानियों और लेखों का अनुवाद करती गई, मुझे लगा कि मैं एक अनजान दुनिया में प्रवेश कर रही हूं, चाहे इस दुनिया के पात्रों से मैं अच्छी तरह परिचित थी। दिद्दी के जीवन से हमारा जीवन भी ऐसे जुड़ा था कि उसके बारे में लिखते हुए मुझे अपने परिवार के बारे में भी लिखना ही पड़ा। एक बात और थी: दिद्दी का व्यक्तित्व कुछ ऐसा था कि जब वो हमारे इर्द-गिर्द होती तो लगता था कि पूरे कमरे का ऑक्सीजन उसने सोख लिया है। इस पुस्तक को लिखते समय भी मुझे कुछ ऐसा ही लगा। मुझे लगने लगा कि उसके व्यक्तित्व को पाठक तक पहुंचाने की क्षमता मुझमें शायद नहीं है—कहीं उसकी एक झलक मिलती, तो कहीं वही झलक एक परछाई प्रतीत होती। ऐसा लगने लगा कि मेरे सम्मुख एक विशाल जिगसौ पज़ल है—कहीं एक नाक दिखती, कहीं एक टांग—इसे जोड़ के मैं दिद्दी की छवि कैसे बना सकती हूं?

लेकिन इस परेशानी से भी विकट था दिद्दी की शैली का अंग्रेज़ी में अनुवाद करना। हम भाई-बहनों ने बहुत पहले उसका नाम वर्जिनिया वूल्फ रख दिया था क्योंकि उन्हीं की भांति, दिद्दी भी अपनी ही अनोखी मानसिक रफ़्तार से समय को चलाती थी। मसलन, जब हम सब बैठकर बातें कर रहे होते, दिद्दी अचानक कोई ऐसा विषय उठा देती जिसका मौजूदा संवाद से कोई ताल्लुक न होता। फोन पर दिद्दी से बात करना एक मुसीबत थी—वो तभी बात करती

जब उसे कोई ख़ास ख़बर कहनी या सुननी होती थी। ऊल-जलूल की गप्पबाज़ी से उसे कोई वास्ता न था। लिहाज़ा, जैसे ही वो अपनी बात कह लेती वो फ़ोन को फट से रख देती चाहे दूसरी तरफ़ आपका वाक्य पूरा हुआ हो कि नहीं। इसीलिए, जब मैंने उसके काम का अनुवाद शुरू किया, मेरे पसीने छूट गए। किसी भी लेख या कहानी का चलन सीधी रेखा में नहीं था—जैसे ही मुझे एक सूत्र मिलता, दिद्दी किसी और दिशा में चल देती, क्योंकि उसे किसी और पात्र या कहानी की याद आ जाती। ऐसे दिमाग़ को किसी एक धारा में बांधकर चलाना असंभव था।

लेकिन इन सबसे अधिक विकट था दिद्दी और शिवानी को अलग करना। शुरू में मुझे लगा कि शिवानी का उपनाम दिद्दी ने अपने को पाठक से छिपाने के लिए चुना होगा, लेकिन बात इतनी सरल नहीं थी। शिवानी और दिद्दी में वही रिश्ता था जो आएडेंटिकल जुड़वाओं में होता है, और जिस तरह ऐसे जुड़वा आपस में जगह बदलकर देखने वाले को हैरान कर देते हैं, उसी तरह दिद्दी भी शिवानी और दिद्दी को अदल-बदल कर कभी दिद्दी बनके मेरे सामने खड़ी हो जाती, कभी शिवानी बनके। सच शायद यह था कि हम सब दिद्दी को अलग अलग रूप में देखते थे: जैसी वो हमें दीखती थी, जैसी वो दिखना चाहती थी, और जो वो असल में थी—उसके एक नहीं, अनेक रूप थे। किसी के लिए वो दिद्दी थी, किसी के लिए बहुजी, नानी, दादी या गौरा। पर इससे भी भिन्न था दिद्दी का वह अस्तित्व जिसे वो सबसे छिपाती रही: उसके अंदर एक ऐसा विषाद था जिसे वो कभी कह या दिखा न पाई। शायद अपने आपको भी नहीं। अपने दुख को छिपाने में दिद्दी माहिर इसलिए बन गई थी क्योंकि वह किसी की सहानुभूति या तरस से बहुत दूर भागती थी। शायद इसी दुख को अपने लेखन में दबाकर छोड़ गई कि शायद एक दिन उसे कोई देखकर, असली दिद्दी को हम समझ लें।

बाबू के निधन के बाद, दिद्दी को राज्य सरकार ने पत्रकार की हैसियत से लखनऊ की गुलिस्तां कालोनी में 66 नंबर का फ़्लैट आजन्म देने का निर्णय करा। इसे रख पाने के लिए दिद्दी ने अख़बारों में लिखना शुरू कर दिया

ताकि कोई ये न कह पाए कि वह वास्तव में पत्रकार नहीं है। 'स्वतंत्र भारत' में उसका एक स्तंभ 'जालक' के नाम से हर हफ़्ते छपता था। विषय होता किसी सांस्कृतिक कार्यक्रम की समीक्षा, लखनऊ की कोई ख़ास घटना या किसी नामी लेखक या विभूति को श्रद्धांजलि। धीरे-धीरे ये इतना लोकप्रिय हो गया कि पड़ोस के दूधवाले से लेकर विश्वविद्यालय के शिक्षकों तक, दिद्दी के पाठक लखनऊ के हर कोने में मिल सकते थे। चाहे कोई दुकानदार हो या बैंक मैनेजर, जैसे ही दिद्दी कहीं जाती, लोग उठकर हाथ जोड़कर उसका अभिनंदन करते थे। दिद्दी की ही मुझे सुनाई एक कहानी इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण लगती है: एक बार वो लखनऊ मेल से दिल्ली आ रही थी। ट्रेन में बैठी तो याद आया कि वो अपना ज़र्दे का डिब्बा घर पर ही भूल आई है। उतने में, ट्रेन का टीटी हाथ जोड़े सामने खड़ा हो गया। बोला, "शिवानी जी, अहोभाग्य कि आप हमारी ट्रेन में सफ़र करने पधारी हैं। कोई मेरे लायक़ सेवा हो तो मुझे बताइए।" दिद्दी ने फ़ौरन अपने ज़र्दे का हाल सुनाकर उससे कहा कि अगर कोई स्टेशन से उसके लिए एक-दो पैकेट गुटका ही ला दे तो उसकी रात कट जाएगी। "मैं अभी पेश करता हूं," कह के वो बाहर लपका और ट्रेन का प्रस्थान दो मिनट के लिए स्थगित कर वह थोड़ी ही देर में दिद्दी को गुटके के दो पैकेट थमा गया। "जानती हो," दिद्दी ने दिल्ली पहुंचकर बड़े गर्व से मुझे बताया, "इतिहास में लखनऊ मेल केवल दो बार रोकी गई है: एक बार तब जब बेगम अख़्तर का सिगरेट केस घर छूट गया था, और एक बार जब मेरा ज़र्दे का डिब्बा घर पर रह गया!"

दिद्दी ने अब पूरे ज़ोर से लिखना शुरू कर दिया था: कहानियां, उपन्यास, सफ़रनामे, स्तंभ—वो दिन-रात लिखती रहती थी। बाबू के चले जाने के बाद अपना निर्वाह करने का उसके पास यही एक तरीक़ा था। जिस तरह आमा ने घर के ज़ेवर व चांदी बेचकर अपना परिवार पाला, दिद्दी ने अपनी कल्पना शक्ति को बेचकर अपना घर चलाया। न आमा ने किसी से मदद मांगी न दिद्दी ने। अपने सेवकों का परिवार उसने अपना बना लिया, वे उसके साथ रहते, वहीं खाते और उसका जीवन सार्थक बनाते। धीरे-धीरे, दिद्दी के लिए वे सेवक

नहीं एक तरह का दत्तक परिवार बन गए।

तो इस प्रकार, तीस साल तक दिद्दी गुलिस्तां कॉलोनी का एक अभिन्न हिस्सा बन गई। कॉलोनी का बच्चा-बच्चा उसे पहचानता था। आमा की ही तरह वो कभी पड़ोस न जाती लेकिन पूरा पड़ोस उसके पास बारी-बारी से आता था, और उसे ये पूरा भरोसा था कि ज़रूरत पड़ने पर, वे उसकी मदद अवश्य करेंगे। कभी पड़ोस की कोई बहू आकर अपना दुखड़ा रो जाती, थोड़ी देर के बाद सास आकर अपनी राम कहानी दिद्दी को बता जाती। दिद्दी समभाव से दोनों की बातें सुनकर दोनों को सांत्वना देती। होली पर, दिद्दी की बनाई गुझिया खाने पूरी कॉलोनी आती। दिद्दी का दरबार सबके लिए खुला था: किसी फेरीवाले को पैसा उधार चाहिए, कोई सुस्ताने आता तो कोई उसकी बातें सुनने। राजा और रंक में दिद्दी की आंखों में कोई अंतर न था। उनके जीवन की गुत्थियां सुलझाने से दिद्दी को जो आनंद मिलता उसका हम अंदाज़ा नहीं लगा सकते। जब उसके अपने बच्चों को उसके सहारे की ज़रूरत न रही, तो दिद्दी ने अपने लिए ऐसे परिवार की सृष्टि कर ली जिसको उसकी बहुत ज़रूरत थी। उसका स्वाभिमान उससे ये कभी न कहलवा पाया कि हम उसके पास जाएं और रहें। हमने भी ये मान लिया कि दिद्दी को गुलिस्तां इतना पसंद था कि वो हमारे साथ नहीं, वहीं रहना चाहती थी। या शायद ऐसा मानना हमारे लिए सबसे आसान विकल्प था। मुझसे उसने एक बार हंस कर कहा था कि एक नए पड़ोसी ने उससे पूछा, "शिवानी जी, क्या आपकी औलाद नहीं है?" पर वो हमेशा हमारे पास बारी-बारी से आती रहती। स्वाभिमान की भी शायद एक हद होती है।

एक कारण और था जिसकी वजह से दिद्दी हमारे साथ रहने से कतराती थी। उसमें अपने किसी बच्चे के दुख को सहने की क्षमता नहीं थी। दिद्दी को बच्चे बच्चों के ही रूप में पसंद थे। जब तक वो उनसे हंसी-मज़ाक कर लेती या उसका रिश्ता लाड़-प्यार का होता, दिद्दी ख़ुश थी। बड़े होकर यदि हम कभी उसे अपनी किसी निजी मुसीबत या दुख सुनाने की कोशिश करते तो वो उठकर चली जाती थी। "मुझे मत बताओ" वो कहती। 'मैं तुम्हारे दुख

नहीं सह सकती हूं।" यही कारण था कि अगर कोई स्वजन बीमार हो जाए या उस पर कोई विपत्ति आन पड़े, तो हमें दिद्दी को वहां एक प्रकार से घसीट कर ले जाना पड़ता था। किसी प्रकार की अप्रिय घटना या प्रसंग को देखने के पहले दिद्दी भाग जाती थी।

लेकिन एक गुण दिद्दी में ऐसा था जो मैंने बहुत कम लोगों में देखा है। वह था उसका अपनी दुर्बलता पर हंस लेने की क्षमता। यही नहीं, उसे किसी प्रकार के ढोंग या आडंबर से सख़्त नफ़रत थी। इस गुण को शायद आमा ने दिद्दी को विरासत में दिया था और इसे वो हम सबको—यहां तक कि हमारे बच्चों तक को—दे गई है। जब भी दिद्दी हमारे घर आती, सारे वातावरण को इतना गुलज़ार कर देती थी कि हमारे नौकर तक उसके जाने से उदास हो जाते थे। हमेशा एक छोटा सा बैग लेकर आती क्योंकि व्यर्थ का सामान ढोने की उसे आदत न थी। वो शौक़ से हमारी साड़ियां पहनती थी और अगर उसकी किसी चीज़ या साड़ी की हम कभी तारीफ़ करते, वो उसी समय उसे उतारकर हमें थमा देती थी। इस सबके पीछे शायद एक संदेश था: कि उसे किसी सांसारिक बंधन से हम नहीं बांध सकते थे और अपने निजी जीवन को वो किसी को नियंत्रित नहीं करने देगी।

दिन की शुरुआत होती दिद्दी की पूजा से। वो ज़ोर-ज़ोर से पाठ करती अपने ठाकुरजी को नहलाती और सारे घर में उसकी पूजा की आवाज़ गूंज जाती। पूजा समाप्त कर, वो सीधे रसोई में जाकर पता करती कि आज क्या बन रहा है, फिर एक कप कॉफ़ी लेकर अख़बार पढ़ने बैठ जाती। जितने दिन वो हमारे घर रहती थी तरह-तरह के व्यंजन और पकवान बनते। बच्चे स्कूल से आते तो सीधे नानी के पास कहानी सुनने बैठ जाते और हमें कुछ कहने की इजाज़त न होती। बच्चों को बिगाड़ना उसे बेहद पसंद था, उन्हें गालियां सिखाना उसका पसंदीदा काम। शाम होते वो टीवी के सामने बैठकर नौकरों की टोली का मनोरंजन करती। एक नेता—जिनके दांत बाहर को निकले हैं—को देखकर वो कहती: "इसका मां या बाप ज़रूर ख़रगोश था।" और जनता में हंसी के ठहाके लग जाते। किसी और को देखकर कहती: "ये तो बिल्कुल ज़िमीकंद है!" और सब

लोट-पोट हो जाते। खोए हुए व्यक्तियों का कार्यक्रम आता तो किसी की अजब शक्ल देखकर उसने कहा था: "ये तो खोया ही अच्छा है!" मतलब, हमारे घर में उसका दर्जा एक जोकर का था, जो सब पर हंसती और हंसाती। ऐसा करने से हम उससे कभी कोई गंभीर सवालों पर बात नहीं कर सकते। और सबसे गंभीर सवाल था कि जब वो अकेले रहने लायक न रह जाएगी तो उसका क्या होगा? किस बच्चे के पास रहकर उसे चैन मिलेगा?

ऐसे सवालों का उत्तर दिद्दी अपने लेखों में हमें देती थी। "मेरा भाई" नाम का एक लेख मुझे आज तक दहला देता है। उसमें झलकता अकेलापन डरा देने वाला है। दिद्दी ने इसे लिखा था अपने प्रिय मित्र हामिद भाई पर, लेकिन उसमें कितनी बार हमें उसकी अपनी छवि भी स्पष्ट दिखाई देती है। दिद्दी को डायबिटीज़ थी, एक बार उसका अपेंडिक्स फट गया था, मरते-मरते बची थी। फिर उसे ग्लैंड का टी.बी. भी हुआ। उससे भी बच गई थी। लेकिन कब तक? मान लो, कभी उसे डायबिटिक कोमा हो जाए, और कोई बच्चा पास न हो, तब? एक बार, सिर्फ़ एक बार, उसने मुझसे इस गंभीर विषय पर बात की थी। जब मैं उसे लखनऊ जाने से रोक रही थी, तो बोली: "मैं इस सबसे घबराती हूं। मुझे अकेले रहने की ऐसी आदत पड़ गई है कि अब किसी के पास ज़्यादा दिन रहकर मैं लखनऊ भाग जाना चाहती हूं। मैं ऐसे प्यार की आदत नहीं डालना चाहती न आराम से रहने की। जब लखनऊ में होती हूं तो मुझे ये सब नहीं दिखाई देता, लगता है तुम सब ख़ुश हो। पर जैसे ही अपने घर का दरवाज़ा खोलकर अकेले अंदर घुसती हूं तो एक मिनट को लगता है वापस भाग जाऊं। रात को आंखें बंद करती हूं तो तुम सबकी शक्लें आंखों के सामने नाचने लगती हैं। बुरे-बुरे ख्याल आते हैं, डर लगता है कि किसी को मेरे पहले कुछ न हो जाए। जब मैं तुम्हें नहीं देख सकती हूं तो तुम सब हर समय मेरे साथ रहते हो। निरंतर।"

ऐसा ही कभी आमा ने दिद्दी से कहा था, लगता था कि धीरे-धीरे, दिद्दी आमा बनती चली जा रही थी।

○

मेरा भाई

आज जब समस्त पृथ्वी हिंसा से उन्मत्त है; जातिवाद रक्तबीज दैत्य के रक्त की बूंदों की भांति नित्य शत-सहस्र दानवों की सृष्टि कर रहा है; जब राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद जैसे व्यर्थ के प्रसंगों ने विभिन्न धर्मावलंबियों के हृदय, संदेह के आरे से चीर दिए हैं: तब कभी-कभी लगता है कि यदि किसी ऐसे व्यक्ति की चर्चा की जाए, जो मुसलमान होकर भी हिंदू था, तो शायद लोगों को विश्वास नहीं होगा।

इस बार लखनऊ लौटने के दूसरे दिन ही ईद पड़ी। मैं बड़ी देर तक उनकी राह देखती रही। ऐसा क्या कभी हुआ था कि वे मुझे ईदी देने न आएं? साथ में रहता रूमाल में बंधा सेवइयों से भरा कटोरा। उनके यहां क्या कभी चूल्हा जलता था? होटल में रहते थे, पर इष्ट मित्र सेवइय़ां भेजते तो मेरे हिस्से को सहेजकर कटोरे में रख लेते। घर-घर की विभिन्न स्वाद, रंग, रस की सेवइयों की वैसी दुर्लभ सौगात शायद ही किसी को जुटती होगी। इस बार वे नहीं आए, न उन्होंने बंबई से लिखे गए मेरे पत्र का ही उत्तर दिया था। मेरा माथा ठनका और मैंने एक परिचित मित्र को फ़ोन किया। "अरे क्या आपने नहीं सुना? उनका तो मई में ही इंतक़ाल हो गया। सोए थे, बस सोते ही रहे।"

गहन अपराध भावना ने मुझे दिनभर क्षुब्ध कर दिया। एक ही पत्र लिखकर मैंने भी तो चुप्पी साध ली थी। किसी और को लिख उनकी कुशल तो पूछ सकती थी! वह व्यक्ति जो सहोदर नहीं था, पर जिसकी मृत्यु की सूचना आज मानस की पंक्ति बन कानों में बज

रही थी—'मिलहि न जगत सहोदर भ्राता।'

मेरा भाई चला गया, ऐसा भाई जो कट्टर मुसलमान होकर भी प्रत्येक होली पर मेरे यहां होली की गुझिया खाने आता था, जबकि उन्हें हिंदुओं के इस त्योहार से बेहद चिढ़ थी, "लाहौल-वला-क़ुव्वत, क्या वाहियात त्योहार है यह तुम हिंदुओं का! देख रहे हैं कि हम सफ़ेद चिट्ट शेरवानी और धुली तमनिया पहने हैं, फिर भी रंग डाल दिया कमबख़्तों ने! .खुदा इनका बेड़ा ग़र्क़ करे!" मेरे पति की बीमारी में वे नित्य आकर उनके सिरहाने बैठ जाते, "जा, तुझे जो काम करना है निबटा ले, हम बैठे हैं।" मैं कई बार उन्हें घंटों बिठाए रखती। कभी दवा लानी है, और दवाएं भी कैसी दुर्लभ—आयुर्वेद के कष्टसाध्य उपचार के लिए कभी नीमचढ़ी गिलोय, कभी पुर्नवा और कभी अश्वगंधा। कभी-कभी मुझे भटकते घंटों लग जाते। प्रायः ही ये जड़ी-बूटियां जुटाने रकाबगंज जाना पड़ता। खिसियाकर लौटती तो देखती हामिद भाई ऋषि-मुनियों के से अडिग धैर्य से मेरे रुग्ण पति के सिरहाने बैठे हैं। किंतु, जब ये संजीवनी बूटियां भी यम को पराजित नहीं कर पाईं तो अंधकारपूर्ण भविष्य मुझे आतंकित कर मेरा मेरुदंड झनझना गया। सगे-संबंधी उस तत्परता से चलते बने थे जैसे सड़क के चौराहे पर मदारी का तमाशा देख रही भीड़ पैसा देने के क्षण से मुक्ति पाने त्वरित फुर्ती से सटक जाती है। एक हामिद भाई ही विपत्ति के उस कठिन क्षण में मेरे साथ खड़े रहे। "देख बच्ची," मेरे कंधे पर उन्होंने हाथ धरकर कहा था, "हिम्मत हारेगी तो काम नहीं चलेगा। कमर कस और आगे बढ़। इंशा अल्लाह, अल्लाह मियां .खुद हाथ बढ़ा देगा।"

कभी-कभी सोचती हूं, विपत्ति से जूझने का जिरहबख़्तर मुझे मिला था हामिद भाई से, हथियार नागर जी से, जिन्होंने कहा था, "बहन, हम तुम्हें तप कर जीते देखना चाहते हैं, घुलकर नहीं।" और धैर्य की मंजूषा थमाई थी गुरुवर हजारी प्रसाद जी ने, "विपदि धैर्य मथाभ्युदये

क्षमा।" यद्यपि स्वयं उनकी आंखों से झरझर आंसू बह रहे थे, किंतु उनके गुरु गंभीर कंठस्वर से निकली वह पंक्ति उसी क्षण मेरा पाथेय बन गई थी।

हामिद भाई की पहली याद रामपुर की ही आती है। रामपुर जहां आज भी मेरे बचपन की स्मृतियों की सुवर्ण मुद्रा खचित गगरी धरा में धंसी रह गई है। ख़ास बाग़, मुस्तफ़ा लॉज, रोज़ विला, मीना बाज़ार, डॉन और वलीअहद से मिले उपहार; नौकर-अर्दली चमन ख़ां, मुन्ने ख़ां, सिकंदर मियां, जुम्मन और मुहम्मद अली पेशकार, पिता के स्टेनो अलवी साहब—हिना और शमातुलंबर की .ख़ुशबू, बुर्क़े की रेशमी जालियों से स्नेह बरसाती वे सुरमाभरी आंखें जिनमें न रहता विद्वेष, न घृणा, रहता केवल अनंत लाड़-दुलार! हमारी कोठी मुस्तफ़ा लॉज—एक आलमगीर बुलंद इमारत थी और मेरे पिता रियासत के पहले हिंदू गृहमंत्री थे। हामिद भाई के चचा सर अब्दुल समद ख़ां की कोठी रोज़ विला हमारी कोठी से गज़ भर के फ़ासले पर थी। उन्हीं के भाई अब्दुल वाहिद ख़ान के मंझले बेटे थे हामिद। उनकी अपनी कोई बहन नहीं थी। इसी से हम बहनों पर उनका अनन्य स्नेह था। मैं तब आठ या दस वर्ष की रही हूंगी। जब कभी छुट्टियों में आते, मेरे लिए एक न एक उपहार अवश्य लाते—कभी फ्रॉक और कभी बड़ी सी गुड़िया और कभी आर्मी नेवी स्टॉर के वे बड़े-बड़े रंगीन क्रैकर, जो दोनों ओर से खींचे जाने पर खंडित शिवधनु की सी गर्जना से हमारे नन्हे हृदय दहला देते। कभी उनके गर्भ से निकलती अंगूठी और कभी चमचमाता लॉकेट। ईद के तो कहने ही क्या। हामिद भाई दुनिया के किसी कोने में क्यों न हों, उनका भेजा दस रुपए का मनीऑर्डर मुझे बड़ी तत्परता से ढूंढ़ ही लेता। उन दिनों उनका जैसा ओहदा था, वैसा ही रौब भी था। "साहज़ादा साहब तशरीफ़ ला रहे हैं!"—सूचना मिलते ही हमारे पूरे घर में हड़कंप मच जाता। "देखो भई, चाय ज़रा क़ायदे से

भिजवाना," मेरे पिता अम्मा से कहते, "हामिद अभी-अभी विलायत से लौटा है, साहब आदमी है।"

देखने में हामिद भाई अपने सुदर्शन पिता के विपरीत थे–सांवला रंग, बेहद लंबी नाक, भरे-भरे कल्ले, निरंतर अधमुंदी रहने वाली बहुत बड़ी आंखें, बेहद मोटे कुछ लटके से होंठ और बित्ते भर का क़द, उस पर मेदबहुल शरीर। बैठते तो सोफ़ा धंस जाता, हंसते तो लगता किसी ने कोरे लट्ठे का थान फाड़ दिया हो। उनकी चमचमाती मॉरिस गाड़ी सदा दर्पण सी चमकती। स्वामी की ही भांति चालक की भी वर्दी ठसकेदार रहती। एक बार अपनी उसी गाड़ी में बिठा वे हमें विलासपुर तहसील घुमाने ले गए। साथ में था कई मीनारों वाला नाश्तादान, बगुले के पंख से नैपकिन, ऐसी चमचमाती कटलरी कि मुंह देख लो। खाने बैठते तो हम सहमते रहते, कहीं कांटा ग़लत पकड़ बैठे तो ख़ैर नहीं। हम कनखियों से देख-देखकर उनका अनुकरण करते कि किस व्यंजन को हामिद भाई किस कांटे से कैसे खा रहे हैं।

और फिर, इन्हीं आंखों ने एक दिन उस प्रखर सूर्य का अवसान भी देख लिया। लखनऊ के बर्लिंग्टन होटल के उस दो नंबर के कमरे में बंद उसी शाहजहां को जब-जब देखती मन विचलित हो उठता। दीवारों का उखड़ा पलस्तर, रोशनदान में लटकी मकड़ी के जालों की झालरें, झूला सा बन गया पलंग, उस पर बेतरतीबी से बिछा ढाई गज़ी बेडकवर, और पूरे कमरे में एक मनहूस सीलन भरी घुटन। एक बार गई तो वे खाना खा रहे थे। रंग उड़ी तामचीनी की प्लेट पर धरी चमड़े सी चपातियां, नन्ही चिलमचीनुमा कटोरियों में दाल, सालन-दाल अलग और पानी अलग!

मैं उनकी डायरी के वे अंश कुछ ही दिन पहले पढ़ चुकी थीः

चांदी के पायों के पलंग पर स्वयं नवाब साहब बैठे रहते। प्रत्येक

निमंत्रित सदस्य का स्थान निर्धारित रहता। मेरे मामू जनरल को प्रथम स्थान मिलता। खाना चांदी के ख़्वानों में (गोल थालों में) सजकर आता। पहले आते दो तरह के सालन, सीक कबाब, पुलाव; फिर मीठे चावल और फिरनी। कई आबदार एक क़तार में लाल कपड़े से मुंहबंधी चांदी की सुराहियों को हाथ में लिए खड़े रहते। जितनी बार नवाब साहब पानी मांगते, उतनी ही बार मंत्री खड़े होकर एक नई सुराही की सील-मोहर तुड़वाते। हर बार नया घूंट नवाब के होंठों से लगता, उतनी ही बार हेड आबदार की आवाज़ गूंजती—बिस्मिल्ला हिर्रहमानिर्रहीम।

ऐसे शाही भोजों की स्मृति क्या सहज में भुला पाए थे हामिद भाई! "खाओगी?" उन्होंने पूछा, फिर स्वयं ही एक लंबी सांस लेकर बोले, "अल्लाह रहम कर, किस मुंह से कहें तुमसे बच्ची, कि ये चरी-भूसा खा लो!"

हर इतवार को वे मेरे यहां दोपहर का खाना खाने आते। पहाड़ में रहे थे, इसी से पहाड़ी खाना उन्हें बहुत पसंद था। प्रायः ही फ़रमाइश करते, गर्म पानी वाला खाना बनाना—गर्म पूड़ी, पीले आलू और पीला रायता। धीरे-धीरे शरीर की शक्ति घटती गई, हृदय जीर्ण हो चला, घुटनों में पानी भर गया। पहले तो गिरते-पड़ते मेरे घर की सीढ़ियां चढ़ लेते थे, फिर रिक्शा से उतरना भी दूभर हो गया। इधर अनेक आघातों ने उन्हें तोड़कर रख दिया था। जिन भतीजों को नैनीताल के दामी स्कूलों में पढ़ाया था, उन सबके पंख उग आए और वे फुर्र से उड़ गए। पिता की एक दुर्घटना में मृत्यु हो गई; वर्षों से उन्मादगृह में बंदी छोटे भाई की मृत्यु हो गई। अचानक उन्हें लगने लगा, वे इतने बड़े संसार में एकदम अकेले रह गए हैं। सबने उन्हें भुनाया मात्र था; काम निकलते ही एक-एक ने अंगूठा दिखा दिया। मन की इसी कुंठा ने उन्हें अंतिम दिनों में मनुष्यद्रोही बना दिया था। जितनी देर बैठे रहते, उतनी देर एक-एक को चुन-चुनकर गालियां देते रहते, "अलां

हमें वलीमे में साथ नहीं ले गया—उसने हमारे ख़त का जवाब नहीं दिया—फ़लां चची लखनऊ आईं और हमसे मिले बिना चली गईं—हमारे भतीजे लिखते थे कि चचाजान, अब आप हमारे साथ रहिए, हम टिकट भेज रहे हैं। ये मुल्क बहिश्त है, आकर तो देखिए, सो तीन साल हो गए। टिकट आने ही में है। अमां क्या खाकर टिकट भेजेंगे? गुर्दा हो तब तो टिकट भेजें। बीवी फ़िरंगिन है। अजी ऐसे बीसियों टिकट तो हम अभी ख़रीदकर फाड़कर फेंक दें!"

रस्सी जल गई थी पर ऐंठ तो वैसी ही धरी थी। हो भी क्यों नहीं—उन्हीं की डायरी के पृष्ठ फिर खोलती हूं:

जलालुद्दीन ख़ान और सादुल्ला ख़ान को 1857 के ग़दर के स्वतंत्र होने के अपराध में गोली से उड़ा दिया था। यही सादुल्ला ख़ान मेरे दादा थे। दादा को मृत्युदंड मिलने पर कुदसिया बेगम हमें लेकर रामपुर आ गईं। रामपुर नवाब के यहां उनका मायका था। पर रामपुर के तत्कालीन नवाब यूसुफ़ ख़ान को 'फ़रज़ंदे दिल पजीर दौलते इंगलीशिया' की पदवी मिली थी। ब्रिटिश सरकार की उन पर बड़ी कृपा थी। फिर भला वे हमारे बाग़ी, ख़ूंख़ार, रोहिल्ला पठान परिवार को शरण कैसे देते? कुदसिया बेगम बड़ी नीतिकुशल महिला थीं। मायके की बेरुख़ी उन्होंने भांप ली और हमें लेकर मुरादाबाद आ गईं...

हामिद भाई की रगों में भी बाग़ी सादुल्ला ख़ान का रक्त अंत तक दौड़ता रहा। मैं जानती थी कि हामिद भाई ने आजन्म कुंवारे रहने का व्रत क्यों धारण किया था। जिससे वे विवाह करना चाहते थे, उसने उन्हीं के शब्दों में उन्हें 'डिच' किया था। बराबर उन्हें यही उम्मीद दिलाती रही कि उन्हीं से विवाह करेगी। फिर सहसा किसी और की बेगम बन पाकिस्तान चली गई। हामिद भाई के अंतिम दिनों में उस व्यर्थ प्रेम की स्मृति फांस बनकर चुभने लगी थी। एक दिन, वर्षों बाद,

बिना किसी सूचना के वह उनसे मिलने आ गई। उसे विदा कर वे सबसे पहले सीधे मेरे यहां ही आए थे, "बच्ची, आज वो आई थी!" उनके झुर्रियों भरे, धंसे गालों पर पल भर को अबीरी लाली उभर आई।

"कौन?" मैंने पूछा।

"और कौन?" फिर हंसकर बोलेः

जवानी जा चुकी लेकिन
ख़लिश दर्दे मोहब्बत की
जहां महसूस होती थी
वहीं महसूस होती है।

"वही—अब समझी!" पाकिस्तान से आई थी। मैं भला कैसे न समझती?

"आपने रोक क्यों नहीं लिया हामिद भाई? अब तो सुना उनके शौहर भी नहीं रहे।"

"बच्ची, जब हमारी आवाज़ में कड़क और दिल में धड़क थी, तब ही नहीं रोक पाए तो अब क्या ख़ाक रोक पाते! आवाज़ की कड़क तो देख रही हो। अब अपनी ही आवाज़ हम नहीं सुन पाते (इधर वे कुछ ऊंचा सुनने लगे थे) और दिल की धड़क हमने मंसूर के नाम कर दी है। (उन दिनों लखनऊ के प्रख्यात हृदय विशेषज्ञ डॉ. मंसूर उनका इलाज कर रहे थे, जिन्होंने उनके गरिष्ठ खानपान पर कड़ी पाबंदी लगा दी थी।) तीन ही तो शौक़ थे हमारे, अच्छा खाना, अच्छा पीना और अच्छा पहनना।"

मैं उनके उन तीनों शौक़ों की साक्षिणी रह चुकी थी। पीना बहुत पहले छूट गया था, खाना मियां मंसूर ने छुड़वा दिया और पहनना हाथ की तंगी ने। कौन कह सकता था कि कभी दूल्हे से सज-संवरकर निकलने वाले हामिद भाई यह वही हामिद भाई थे जिनके सूट फ़ेल्प्स

से सिलकर आते थे, घंटे भर को कहीं जाते तो चमड़े के बैग में पॉलिश की डिबिया और ब्रुश लिए सरकारी चोबेदार पीछे-पीछे भागता, दस क़दम भी चले और फटाफट जूता फिर दर्पण सा चमका दिया जाता। बड़ी दूर से ही उनके आफ़्टर शेव की तीव्र सुगंध उनकी आगमनी की सूचना दे जाती। और अब? उधड़े फटे मोज़े, न जाने किस ज़माने के जीर्ण दस्ताने जिनमें से पांच में से तीन उंगलियों का अर्धांग बाहर निकला रहता। मैंने नए दस्ताने बुनकर दिए तो न जाने कहां डाल आए। विराट शरीर रिक्शे में ऐसे ठुंसा-फंसा रहता जैसे छोटे से होल्डॉल में पांच-पांच सेर रूई के गद्दे-लिहाफ़ अटे हों—न जाने कब पेटी टूट जाए! चिंदियों में लटका गुलूबंद। अर्धशायी मुद्रा में सड़क से ही हांक लगाते, "क्यों बच्ची, हो घर में?"

इधर एक वर्ष से वे रिक्शे से भी नहीं उतर पाते थे। मैं वहीं थाली परसकर ले जाती। कौर मुंह में ले जाने की भी शक्ति उनमें नहीं रही थी। मुझे बार-बार यही भय होता था कि कहीं मेरे दरवाज़े इन्हें कुछ हो गया तो मैं क्या करूंगी? उस पर कुछ विक्षिप्त से भी हो गए थे। जो वर्षों पहले जा चुके थे, उन्हें याद करते। मुझसे कहते, "जा, बुला ला उन्हें त्रिभी कहां हैं? शुकदेव कहां हैं? हम इत्ती दूर से आए हैं और वे ज़नानी बने पर्दे में दुबके हैं!"

जब मैं कहती कि मेरे बड़े भाई और पति जिन्हें वे बुलाने को कह रहे हैं, वे तो कब के जा चुके हैं तो वे कहते, "कहां जा चुके हैं? तुम क्यों नहीं जा सकतीं उन्हें बुलाने?"

"काश, मैं जा सकती!"

"हम हुकुम दे रहे हैं!" उनका पठानी रक्त फिर रगों में दौड़ने लगता।

"वहां किसी का हुकुम नहीं चलता, हामिद भाई। 'फरजंदे दिल पजीर दौलते इंगलीशिया' का भी नहीं।" मुझे हंसी आ गई और वे बौखला गए।

"हंसती है! दांत भीतर कर दूंगा। मैं कहता हूं, बुला ला उन्हें!" वे गरजते और आसपास की खिड़कियों से प्रतिवेशियों के कौतूहली चेहरे झांकने लगते। फिर आरंभ होता उनकी गालियों का दौर। मेरे जी में आता, धरती फट जाए और मैं धंस जाऊं—सब मुझे जानते हैं। इस उम्र में बीच चौराहे में बेबस खड़ी मैं साक्षात दुर्वासा बने हामिद भाई की नंगी गालियां झेलती रहती। यद्यपि स्वयं मेरे लिए वे गालियों उस पहुंचे पीर की गालियां थीं जो हमेशा दुआ बनकर दौलत बरसाती हैं, पर लोग तो नहीं जानते थे। कभी-कभी तो रिक्शा वाला भी खिन्न होकर कहता, "का कही बहू जी, सनक गए हैं साहबजादे। अब तो अल्ला मियां इन्हें बुला ले!"

वह उनका बड़ा पुराना रिक्शा वाला था। उन्हीं के शब्दों में—उनका फ्रेंड, फ़िलॉसफ़र, गाइड।

"अजी हमारे साथा बहुत नेकी किए हैं। पच्चीस बार हमका 'पकीजा' दिखाइन, बहू अपने लग बाक्स में बिठाइत रहे। 'नखलऊ' की एक पिक्चर का कबहूं छुट्टी इनसे!"

•

एक दिन के तीनों शो देखते थे हामिद भाई। फिर पिक्चर का मोह छूटा तो सैलानी फ़क़ीर बन गए। दिनभर लखनऊ की अली-गलियों में इसी रिक्शा में घूमते रहते—कभी महानगर, कभी निशातगंज, कभी नक्खास, कभी अमीनाबाद। लखनऊ के हर गली-कूचे में तो उनके परिचित थे। फिर धीरे-धीरे वहां से भी दुरदुराए जाने लगे। एक दिन मेरे पास आए तो मैं पूजा कर रही थी। उतरने में विलंब हुआ। मैं डर रही थी कि देखते ही बरस पड़ेंगे। पर उस दिन आग का दरिया जैसे बर्फ़ का हिमाला बन गया था। उनका उतरा चेहरा और डबडबाई आंखें देख स्वयं मेरा अपराधी अंतःकरण मुझे धिक्कार उठा। एक दिन क्या पूजा संक्षिप्त नहीं कर सकती थी? कभी जिनकी कार का

शब्द सुनते ही सीढ़ियां धड़धड़ाती, उनसे लिपटकर पूछती थी, "क्या लाए हैं, हामिद भाई? क्या लाए हैं हमारे लिए?" आज उसी बुज़ुर्ग को सड़क पर इतनी देर खड़ा रखा! "माफ़ कीजिएगा हामिद भाई, पूजा कर रही थी।" वे कुछ नहीं बोले।

मैं पास गई तो मेरा हाथ थामते ही बड़ी देर से रोका गया कंठ का गह्वर आंखों से फूट चला। मैंने उन्हें ऐसे बच्चों सा सुबकते ततःपूर्व कभी नहीं देखा था। लगता था, कहीं गहरी चोट खाई है। "ख़ैरियत तो है, क्या हुआ हामिद भाई?" "क्या कहें बच्ची, एक तुम्हारा और एक चची का घर ही तो बचा था हमारे लिए। आज वहां से भी दुरदुरा दिए गए, चची ने साफ़ कह दिया—हामिद, अब ऐसी हालत में तुम हमारे यहां मत आया करो।"

उनकी एक प्रिय चचेरी बहन कुछ दिन पहले ही लिख चुकी थी, अब तुम अलीगढ़ मत आना हामिद। कहीं ट्रेन में ही कुछ हो गया तो? यहां आ भी गए तो अब हम तुम्हारी देखभाल नहीं कर पाएंगी। तुम जानते ही हो, हमें अपने मरीज़ों से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती। एक और मरीज़ की देखभाल करना अब हमारे लिए नामुमकिन है।

"लीजिए, यानी कि अपनी बहन के लिए हम एक और मरीज़ बन गए!" पर आहत होने पर भी वे अपनी विनोदप्रिय छौंक लगाना नहीं भूलेः

दीवार क्या गिरी मेरे कच्चे मकान की,
लोगों ने मेरे सहन में रस्ते बना लिए!

पाकिस्तान के विदेशमंत्री साहबज़ादा याक़ूब ख़ान उनके सगे चचेरे भाई थे। एक दिन मैंने कहा, "कितनी शक्ल मिलती है आपसे, कल टेलीविज़न पर देखा था?"

"शक्ल ही तो मिलती है बच्ची, क़िस्मत तो नहीं मिलती।"

मैं जब भी लखनऊ से बाहर जाती, वे उदास हो जाते, "तुम

जाती हो तो हमें लगता है हम एकदम अकेले हो गए हैं, कहीं कुछ हो गया तो कौन पहुंचाएगा हमें क़ब्र तक?"

"हामिद भाई," मैंने हंसकर उन्हें छेड़ दिया था, "मैं तो वैसे भी चिता तक ही पहुंचा सकती हूं। आप भूल जाते हैं कि मैं हिंदू, आप मुसलमान।"

उन्होंने लाहौल पढ़कर मुझे फटकार दिया था, "फिर वही बेहूदी बात! न तुम हिंदू न हम मुसलमान, न तुम्हारे मंदिर न हमारी मस्जिद। बस यह याद रखना बच्ची, तुम हमारी बहन हो, हम तुम्हारे भाई। यही एक रिश्ता है हमारा और हमेशा रहेगा।"

उस रिश्ते को तो उन्होंने मरते दम तक निभाया। मेरी हर बेटी की शादी पर आए। मेरे हर दामाद ने उनके पैर छुए। मेरे बेटे ने सगे भानजे का रिश्ता निभाया। बहू तो बहू, बहू की मां भी जब उनके लिए लैब ऊन का दामी स्वेटर भेजना नहीं भूलीं, तो उनकी आंखें अकपट अश्रुजल से छलक उठीं।

फिर इसी मार्च में जब मुझसे मिलने आए तो देखा कि उनके दोनों पैर बुरी तरह सूजे थे। बहकी-बहकी बातों में कहीं कोई तुक नहीं था। फिर भी बीच-बीच में अतीत की स्मृतियां जैसे चाबुक लगाकर उन्हें सचेत कर रही थीं, "बच्ची, अब हमारी यह आख़िरी मुलाक़ात है। अब हम तुम्हें कभी नहीं देखेंगे।"

फिर मेरा हाथ अपनी सूजी उंगलियों में थाम उन्होंने माथे से लगाया। शब्द मेरे कंठ में सटे जा रहे थे। फिर भी स्वर को संयत कर कहा, "कैसी बातें करते हैं आप! देख लीजिएगा, ईदी लेने ठीक वक़्त पर ही पहुंच जाऊंगी।"

पर कहां पहुंच पाई मैं!

कभी उन्होंने कहा था, "कभी मौत से मत डरना। हमें देख, दोनों

पैर कब से क़ब्र में लटकाए बैठे हैं। अल्लाह मियां ने पुकारा और हम उतर पड़े क़ब्र में। याद रख, बुज़दिलों को ही मौत तड़पा-तड़पाकर मारती है—चूहा बिल्ली से डरता है, तभी तो बिल्ली उसे पटक-पटककर मारती है। जो मौत से नहीं डरते, मौत उन्हें कंधे पर बिठाकर ले जाती है।"

सच, मौत उन्हें कंधे पर बिठाकर ही ले गई। लखनऊ के न जाने किस कूचे की दो गज़ी ज़मीन में मेरा वह भाई चैन की नींद सो रहा है। किसी न किसी दिन तो वह जगह ढूंढ़ ही लूंगी और यह भी जानती हूं कि उस फ़रिश्ते की क़ब्र से सदा यही आवाज़ गूंजेगी—न तुम हिंदू न हम मुसलमान, न तुम्हारे मंदिर न हमारी मस्जिद। बस, यह याद रखना बच्ची, कि तुम हमारी बहन और हम तुम्हारे भाई—एक यही रिश्ता है हमारा और हमेशा रहेगा!

9

रामरती

यदि एक बात से दिद्दी को सख़्त नफ़रत थी तो वह थी किसी से मदद लेना या किसी के सामने हाथ फैलाना। चाहे वो अपनी ही संतान हो या कोई और, किसी के अहसान से दब जाना उसे क़तई नामंजूर था। यही कारण था कि जैसे-जैसे उसकी उम्र होती चली गई और वो अशक्त बनती गई, दिद्दी का अकेलापन भी बढ़ता चला गया। इस लिहाज़ में वो आमा की असली उत्तराधिकारी निकली, क्योंकि उन्हीं की तरह, वो अपने घर से हिलने को तैयार न होती थी। इसकी वजह यह न थी कि उसे हमारे साथ अपने बचे दिन बिताने से कोई घृणा थी पर ये कि वो अपनी बीमारी और बुढ़ापे का बोझ किसी पर नहीं थोपना चाहती थी। उसके जीवन ने यदि उसे एक सबक अच्छी तरह रटा दिया था तो वो था कि कभी किसी की मदद पर आश्रित न रहो। जब तक हाथ-पैर चलते रहें, अकेले रहो। टैगोर का 'ऐकला चौलो रे' का पाठ लगता था उसने अपने जीवन का मंत्र मान लिया था। उसे हमारे जीवन के कई तरीक़े मान्य नहीं थे और उसे ये भी पता था कि हम उसके कहने पर अपनी ज़िंदगी को नहीं बदलेंगे, इसलिए उसने ये निश्चय कर लिया कि बाद में अफ़सोस करने से इस बात को मान लो कि एक हद के बाद अपनी संतान भी अपनी नहीं रह जाती। इस तरह अपने अंतिम दिनों में दिद्दी, आमा की तरह, अपने ही घर में स्वत: क़ैद हो गई। आमा की सेवा तारा दीदी ने की थी, दिद्दी की सेवा उसकी प्रिय नौकरानी रामरती ने की।

नौकरों की भूमिका दिद्दी के जीवन में बहुत अहम रही। आमा के घर की ही तरह, दिद्दी का घर भी नौकरों के हाथों चलता था और उन्हें गृहस्थी का कोई पाठ कभी न सिखाया गया। उन्हें नियुक्त करते समय, आमा की ही तरह, ये देखा जाता था कि उनका मानसिक स्तर कैसा है। आमा और दिद्दी के नौकरों में ये नहीं देखा जाता था कि क्या उन्हें खाना बनाना या चाय पेश करना आता है कि नहीं, बल्कि ये कि क्या वे हाज़िरजवाब हैं कि नहीं? खाना और चाय तो कोई भी बना लेता है, नहले पर दहला डालना कितनों को आता है? बचपन में हमारे घर के लगभग सभी नौकर आमा के घर से आते थे और क्योंकि उनसे हमारा पुश्तों का संबंध था, हम उनकी उतनी ही इ़ज़्ज़त करते थे जितनी घर के किसी बुज़ुर्ग की। जब वे रिटायर हो जाते या मर जाते, तो उनके बच्चे उनकी जगह संभाल लेते थे। लोहनीजी का एक बेटा ख़्याली, जयंती जेड़जा के साथ सालों तक रहा और उसका बेटा, भुवन, त्रिभी मामा के घर में पला और उसने उनकी बेटी व मेरे साथ-साथ बी.ए. पास किया था। आज वो पुलिस में नौकरी करता है और त्रिभी मामा के परिवार से निरंतर संपर्क रखता है।

दिद्दी का रामरती से कैसा संबंध था इसका अंदाज़ा आगामी लेख से आपको स्वयं पता चल जाएगा, लेकिन उसके बच्चे तक दिद्दी को कितना प्यार करते थे इसका पता हम सबको अच्छी तरह मालूम है। अपनी मां के निधन के बाद रामरती की बेटी किरण, जिसकी शादी दिद्दी ने की थी, वापस गुलिस्तां लौट आई और उसका परिवार दिद्दी के साथ रहने लगा। वे उसके साथ खाते-सोते, किरण के बच्चे दिद्दी को नानी बुलाते थे और हमको मौसी। दिद्दी के मरने के पहले किरण अपने बच्चों को अकेला छोड़कर दिल्ली आकर अस्पताल में पहरा देने पहुंच गई थी। जब दिद्दी के पार्थिव शरीर को लिटाया गया, वो उसका सिर अपनी गोद में रखकर घंटों बैठी रही। अगले दिन सब अख़बारों में उसकी ही तस्वीर छपी थी। उस दिन बहुत सारे पत्रकार आते रहे, और एक फोटोग्राफर उल्टा-सीधा होकर दिद्दी के शरीर की तस्वीर खींचने में इतना नाटक कर रहा था कि हम सबको बहुत गुस्सा आया। लेकिन कुछ कहना अभद्र

लगेगा सोचकर हम सब चुप थे। तब किरण मुझसे बोली, 'जब नागर जी मरे थे, हम दिद्दी के साथ उहां गए थे। एक ससुर ऐसा ही आदमी तस्वीर लेने कुर्सी पे चढ़ा और नागरजी की मिट्टी पे गिर पड़ा। तो दिद्दी ने उससे ज़ोर से कहा था, "क्यों भाई, नागर जी के साथ ऊपर जाने का इरादा है क्या?" तुम ठहरो, हम इस ससुर को ठीक करते हैं।" ये कहकर वो उठी, उसके पास जाकर बोली, "अब आप जाइए।" बेचारा खिसियाकर चला गया।

दिद्दी और रामरती ने गुलिस्तां कॉलोनी में एक अनोखा संसार बसाया। वहां न किसी दरवाज़े पर ताला लगता था न किसी नौकर के आने-जाने पर किसी तरह की रोक-टोक थी। नौकर और मालकिन में कोई भेद न था। पहले आई रामरती और उसके पीछे आया उसका पूरा परिवार। शादी होने के बाद भी रामरती की बेटियां दिद्दी का घर अपना मायका मानती थीं और हर तीज-त्योहार पर अपने बच्चों समेत मिलने आतीं। उनके घरों की ख़बर सुनने में दिद्दी को गहरी दिलचस्पी थी और उनको सलाह-सांत्वना देना दिद्दी को बेहद पसंद। मसलन, रामरती की एक बेटी, प्रेमा, का पति पीकर उसे पीटता था। रोज़ उसकी हालत देखकर दिद्दी ने प्रेमा से कहा, "तू क्यों नहीं जड़ देती उसे एक-दो?" दिद्दी के ही प्रोत्साहन से प्रेमा ने दाई का कोर्स किया और जब वो अपनी आमदनी से अपने को पालने लगी, दिद्दी ने उसे ख़ूब शाबाशी दी। प्रेमा से दिद्दी कहती थी, "यहां तो शेर सी गरजती है, वहां जाकर चुहिया कैसे बन गई?" दिद्दी का एक और वफ़ादार सेवक था उसका पुराना धोबी, मिसरीलाल। दुबला-पतला मिसरीलाल ख़ाकी रंग की हाफ़ पैंट पहने कोसों दूर से साइकिल चलाकर हर हफ़्ते दिद्दी की जुगान देने आता था। यही नहीं, वो स्वयं कपड़े निकालता, उनको पुराने हिसाब से मिलाता और नई जुगान लिखकर जाता। बिस्तरों की चादरें और तकियों के लिहाफ़ भी बदलता, साफ़ पलंगपोश बिछाना उसी का काम बन गया। मेरे बेटे का कहना है कि वो असली में कपड़े धोने नहीं नानी के साथ दिन बिताने आता था। आकर वो सीधे चौके पहुंचता जहां रामरती उसे चाय-पानी-नाश्ता देती, फिर वो एकाध घंटे पिछले बरामदे में सुस्ता के दिद्दी के पास पहुंचता। मिसरीलाल का इकलौता बेटा कई साल पहले बंबई भाग गया

था और उसकी बहू मिसरीलाल को बहुत दुख पहुंचाती थी। मिसरीलाल के परिवार का हाल सुनने में दिद्दी को गहरी दिलचस्पी थी और एक टीवी सीरियल की तरह हर हफ़्ते उसके एक नए एपीसोड के खुलासे से दिद्दी को बहुत कुछ मिलता था। अपनी दुखभरी कहानी दिद्दी को सुना, अपना दिल हल्का कर, कुछ पैसे लेकर मिसरीलाल वापस चला जाता था।

फिर अचानक, मिसरीलाल ग़ायब हो गया और बहुत पता लगाने पर भी उसकी कोई ख़बर दिद्दी नहीं लगा पाई। दिद्दी के घर में धोबी का अभाव साफ दिखाई देता था और एक बार जब मैं लखनऊ गई तो घर की चादरों का हाल देखकर मैंने दिद्दी से कहा कि वो कोई और धोबी क्यों नहीं रख लेती?

"लखनऊ में अब धोबी कहां रहे?" दिद्दी ने एक लंबी सांस भर के कहा।

"कैसी बात करती हो?" मैंने उत्तर दिया, "यहां कॉलोनी में ही पांच-छह होंगे।"

"जी नहीं," दिद्दी ने मुस्करा के जवाब दिया, "अब वे सब मंत्री बन गए हैं!"

ये बात उस समय की है जब बहन मायावती ने लखनऊ में अपने पहले मंत्रिमंडल का गठन किया था। दिद्दी को ऐसी टिप्पणी कसने से कोई डर न था जिसे अन्य लोग इस डर से न करते थे कि इससे कोई राजनैतिक विवाद न खड़ा हो जाए। ऐसे ही एक बार कोई सज्जन दिद्दी से डॉ अंबेडकर की मूर्ति का अनावरण करने का अनुरोध लेकर आए। आप सबको याद होगा कि अंबेडकर की हर मूर्ति में उनकी पैंट को न जाने उनके टख़नों तक ही क्यों पहनाया जाता है। "देखिए," दिद्दी ने बहुत विनम्रता से अपने को इस स्थिति से निकालते समय कहा, "मैं अब बहुत बीमार रहती हूं, डॉक्टरों ने मुझे ज़्यादा बाहर जाने से मना किया है। पर मुझसे आप कुछ पैसे लेकर अंबेडकर जी की मूर्ति को ढंग की पैंट अवश्य पहना दीजिएगा!"

लेकिन अपने निजी जीवन में दिद्दी के बराबर धर्मनिरपेक्ष कम ही लोग होते होंगे। उसमें जात-पांत का भेदभाव बिल्कुल न था। उसकी पुरानी मेहतरानी, नहुरिया और उसका पति मोहन, दिद्दी को बहुत प्रिय थे। जब भी वो कहीं

से लौटती, सबसे चटख़ साड़ी और चूड़ियां वो बहुरिया को देती। सालों पहले दिद्दी ने बहुरिया को रेलवे में नौकरी दिलवा दी थी लेकिन रोज़ सुबह बहुरिया दिद्दी से मिले बिना अपनी "ड्यूटी" पर न जाती। दिद्दी उसे अपने साथ बैठा कर चाय पिलवाती और अख़बार की सनसनीख़ेज़ ख़बरें सुनाती। फिर थी बूढ़ो, जो दिद्दी की मालिश करने आया करती थी। हम लोग दिद्दी को चिढ़ाते थे कि दिद्दी को उस बेचारी बुढ़िया की मालिश करनी चाहिए। बूढ़ो विधवा थी और उसके कोई बच्चे न थे: कहीं से वो दिद्दी के दरबार में पहुंच गई और दिनभर वहीं रहती थी। रात सिर्फ सोने अपनी झुग्गी में जाती। दिद्दी ने उससे वादा किया था कि उसे मान-सम्मान से घाट तक पहुंचाएगी इसलिए जब बूढ़ो मरी तो उसके अंतिम संस्कार का सारा ख़र्चा दिद्दी ने ही दिया। यही नहीं, जब उसका जनाज़ा उसकी इच्छानुसार दिद्दी के घर के सामने से गुज़रा, तो दिद्दी ने ऊपर से उस पर गुलाब की पंखुड़ियां बरसाई। ये दृश्य कुछ वैसा ही था जब राजकुमारी डायना के जनाज़े को देखकर महारानी एलिज़ाबेथ ने अपना सिर झुकाकर बकिंघम पैलेस के सामने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी। हम सब मज़ाक़ में कहते थे कि भारत सरकार की तरह, दिद्दी अपने सेवकों की अंतिम सांस तक देखरेख करती है। बाद-बाद में, जब भी उसे कोई पुरस्कार मिलता वो फ़ौरन उसे मदर टेरेसा को दान कर देती थी।

अपने सब सेवकों में रामरती दिद्दी को सबसे प्रिय थी। उसके निधन के बाद, दिद्दी ने उसकी बेटी किरण को अपनी दत्तक पुत्री बना लिया और किरण ने भी उसकी सेवा किसी सगी बेटी की तरह ही की। आज तक, मजाल है कि हम में से किसी का जन्मदिन या शादी की सालगिरह किरण भूल जाए या मिकी को रक्षा बंधन और भाई दूज का टीका न भेजे। रामरती को सबसे ज़्यादा कोई याद करता था तो वो था उसका 'फलाने': फेंकू। रामरती के बाद, उसी की ही तरह वो दिद्दी की परछाई बनकर दिद्दी के पीछे-पीछे घूमता था। रोज़ शाम को वो हांफता हुआ सीढ़ियां चढ़, दिद्दी के कमरे में एक गठरी की तरह बैठा रहता। दमा ने उसका शरीर खोखला बना दिया था लेकिन हम जैसे ही गुलिस्तां पहुंचते फेंकू हमारे लिए ग़ज़ब की बिरयानी-कोरमा बनाता। कुछ साल

पहले दिद्दी ने उसका पीना छुड़वा दिया था और अब उसका व्यक्तित्व कुछ और ही बन गया था। हमेशा खोया हुआ सा लगता और किसी अन्य दुनिया में रहता। एक साल, जुलाई के महीने में, जब दिद्दी मेरे पास दिल्ली अपनी आंख में मोतियाबिंद का ऑपरेशन कराने आई थी, किरण का अचानक फोन आया कि फेंकू की हालत बहुत ख़राब हो गई थी और उसे अस्पताल में भर्ती कर दिया गया है। उसने एक ही रट लगाई थी कि दिद्दी को यहां बुला दो। दिद्दी ने आव देखा न ताव, फौरन अपना बोरिया-बिस्तर बांधकर लखनऊ जाने को तैयार हो गई । मृणाल और मैंने कितना समझाने की कोशिश की कि उसे अभी सफ़र नहीं करना चाहिए, आंख में कुछ हो सकता है, लेकिन उसने किसी की एक न मानी। लखनऊ पहुंचते ही वो सीधे अस्पताल गई चाहे भीषण बारिश हो रही थी और उसे अस्पताल रिक्शे में जाना था।

वहां पहुंचकर फेंकू से दिद्दी ने कहा, "फ़िकर न करो, फेंकू, मैं आ गई हूं तुम्हें अब कुछ न होगा।" फेंकू का मुंह ऑक्सीजन मास्क से बंधा था, बोल नहीं पाया लेकिन उसने हाथ उठाकर दिद्दी का अभिनंदन कर अपने बच्चों की ओर इशारा किया मानो कह रहा हो कि मैं इन्हें आपके हवाले छोड़े जा रहा हूं। दिद्दी घर लौटी ही थी कि अस्पताल से फ़ोन आया कि फेंकू ने दम तोड़ दिया। "लगता था जैसे वो मेरे लिए ही रुका था," दिद्दी ने मुझसे बहुत उदास आवाज़ में कहा, "अब मेरे लिए लखनऊ में कोई नहीं रह गया है।"

एक थी रामरती

'एक था राजा' कहें या 'धनदर्प-कंदर्प-सौंदर्य हृद्यनिरवद्य भूपो बभूव,' अर्थ एक ही होगा, किंतु जो सहजता 'एक था राजा' में है, वह दूसरी

छंदोमयी भाषा के शब्दजाल में नहीं, इसी से लिख रही हूं, 'एक थी रामरती'—यद्यपि उस नाम के साथ भूतकाल का प्रयोग करने में मुझे वैसा ही कष्ट हो रहा है जैसा किसी प्रियजन को तिलांजलि देने में, उसके नाम के आगे 'प्रेत' शब्द जोड़ने में होता है।

गुरुवर द्विवेदी जी ने अपने एक भाषण में कभी बड़ी महत्वपूर्ण बात कही थी, "आपके इर्द-गिर्द जो जनता है, वह बहुत बड़ी चीज़ है। उसकी परंपरा महान है, उसी को आप अपने अध्ययन का प्रधान विषय बनाएं। आपको इसी जनता के निकट संपर्क में रहकर कार्य करना है। आसपास की जनता की भाषा, विचार, जाति-पांति, रहन-सहन, धर्म-कर्म सब कुछ के विषय में ज्ञान-संग्रह करने का प्रयत्न कीजिए, पुस्तकालय और संग्रहालय को अपने कार्य का अत्यंत आवश्यक अंग तो समझिए ही, किंतु जनता को प्रबुद्ध बनाना आपका काम है। उसे इस योग्य बनाएं कि वह अपने अतीत को समझ सके, वर्तमान को देख सके और भविष्य को बना सके। अर्थात जनता से ही सीखें, उसी को सिखाएं।"

इसमें कोई संदेह नहीं कि असंख्य वाचनालय हमें मानवता का वह पाठ पढ़ाने में सक्षम नहीं हो सकते, जो पाठ हमें हमारे पास ही जनता अनायास ही पढ़ा जाती है। अपने दीर्घ जीवन के अनेकानेक रहस्यमय कोष्ठ-प्रकोष्ठों की परिक्रमाएं मुझे कभी ऐसी ही अनूठी अभिज्ञताएं थमा गई हैं। जीवन में अनेक उदार कृति गुरुजनों की शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, किंतु कभी-कभी लगता है, जीवन के जो अनुभूत मृत्युंजयी टोटके अपढ़ या सामान्य शिक्षित जनता ने थमाए, जीवन की दुरूह पगडंडियों को पराजित करने की क्षमता उन्हीं से प्राप्त की। आज, जब एक ऐसी ही अपढ़, सरल, विलक्षण सद्य:दिवंगता सेविका को, कृतज्ञ करपुट श्रद्धा-सुमन अर्पित करने तत्पर होते हैं तो एक पल को वह आनंदी हंसमुख चेहरा, कंठ

वाष्प स्तंभित कर देता है। दुबली-पतली देह, वज़न कुल 29 किलो, जिसे यत्न से सींचने पर भी कभी वज़न तौलने की मशीन की सूई मैं रंचमात्र भी आगे नहीं खिसका पाई किंतु प्राणशक्ति उतनी ही वज़नदार। कभी-कभी आश्चर्य होता था कि उस मुट्ठी भर देह में इतनी शक्ति आती कहां से है! उसके प्रेममय सहज हृदय की सरलता देखकर सहसा विश्वास नहीं होता था कि इस कुटील युग में भी किसी का हृदय इतना निष्कपट, ऐसा निष्कलुष और निस्वार्थ हो सकता है।

समझ में नहीं आता कहां से आरंभ करूं, पर इतना अवश्य समझ रही हूं कि एकदम सतर, सीधी, सरल रेखा खींचना कितना कठिन होता है! न वह उच्च कुल में जन्मी, न शिक्षा ही प्राप्त की, न आभिजात्य, न अहंकार, इस स्मृति-चित्र को आंकने में न कल्पना का ही सहारा ले सकती हूं, न छंदोमयी भाषा का। बाईस वर्ष पूर्व मैंने उसकी नियुक्ति की तो मेरे पति ने घोर आपत्ति की थी, "इतने काम करने वाले तो हैं! फिर यह कई घरों में काम करती है, दस घरों की जूठन यहां फैलाएगी, हमारे यहां अपनी कोई प्राइवेसी नहीं रह जाएगी।"

"वह ऐसी नहीं लगती," मैंने दृढ़ स्वर में कहा। और उसी दिन से उसने हमारे गृह की सेविका का भार संभाल लिया। वर्षों पश्चात, जब मेरे पति मृत्युशय्या पर पड़े थे, तो उन्होंने कहा था, "तुमने इसे ठीक ही पहचाना था। यह हमेशा तुम्हारा सहारा बनेगी।" यद्यपि उस दिन पति का वह समर्थन मुझे मन ही मन विषण्ण कर गया था। उनके नैराश्यपूर्ण स्वर में अब मेरा सहारा न बने रहने का स्पष्ट संकेत था। उनकी मृत्यु के पश्चात सचमुच ही उसने मेरी लड़खड़ाती गृहस्थी का संपूर्ण भार अपने दुर्बल कंधों पर साध लिया विछोह के प्रारंभिक क्षणों में शायद विवेकशीलता एवं धैर्य के आयुध विधाता बड़ी हृदयहीनता से छीन लेता है। यह जानकर भी कि उस आघात को मुझे अकेले ही झेलना होगा, वह भी अडिग साहस से, मैं प्रतिपल

हताश होकर धैर्यच्युत हुई जा रही थी। पति की ईमानदारी ने लक्ष्मी को बहुत पहले ही स्पष्ट कर दिया था, न कोई संचित धनराशि थी, न किसी जीवन बीमे के तिनके का सहारा। लिखने की चेष्टा करती तो लेखनी अड़ियल-अबाध्य अश्व बनी हिनहिनाकर दोनों पैरों पर खड़ी हो जाती। 'नहिं विद्या नहिं बाहुबल नहिं खर्चन को दाम' वाली स्थिति मुझे किंकर्तव्यविमूढ़ बना रही थी। इसी से मैंने उससे कहा, "रामरती, अब तुम्हें नहीं रख पाऊंगी। तुम कोई और घर देख लो।" तब तक उसका पूरा परिवार मुझ पर ही निर्भर था। अचानक उसके पति की नौकरी चली गई थी। तीन-तीन बेटियां थीं, उसे तो अपना पेट पालना ही होगा। "ल्यो, अउर सुनो!" वह सींकिया देह को सतरकर खड़ी हो गई थी, "कहती हैं अउर घर देख लो! हम का तोहका अइसन घड़ी में छोड़ देई? हम का नमकहराम बिलार हैं दीदी, जो मालिक घरै दूध न मिली, तो अतै चली जाई?"

और वह नहीं गई, पर मेरे लाख कहने पर भी उसने तब तक वेतन नहीं लिया जब तक मुझे अपने पति का फ़ंड, पेंशन राशि नहीं मिली। मेरी मंझली पुत्री विदेश में थी, छोटी ससुराल में, छोटा पुत्र पढ़ रहा था। बड़ी पुत्री तीन महीने मेरे साथ रही, फिर उसे विदेश जाना पड़ा। जिस दिन वह गई, उसी रात को रामरती अपनी गुदड़ी-कंथरी सर पर धरे, रात को सहसा मेरे कमरे में हंसती खड़ी हो गई, "महतारी, ल्यो, हम आइ गईन!" फिर मजाल थी जो अर्धरात्रि के किसी दुर्वह क्षण में उससे छिपाकर मैं एक सिसकी तो कंठ में घुटक लूं! मेरा निशब्द रूदन भी उसके चौकन्ने कानों तक पहुंच जाता। वह तत्कार उठकर कठोर प्रहरी सी मेरे सिरहाने खड़ी हो जाती—"आंखिन का फोर डरियो का? देखो दीदी, तोहार रोये-धोये से अब साहेब लौटिहैं का?"

मुझे खिलाने-पिलाने में वह फिर स्नेहशील जननी बनी। मेरे

एक-एक गस्से का हिसाब रखती—रोटी क्यों छोड़ दी...? दूध क्यों नहीं पिया?

उस आघात के पश्चात, उसी ने मुझे काग़ज़-क़लम थमा एक दिन ज़बरदस्ती लिखने बिठा दिया था, "थामो, लिख डारो तनी, जान्यो दीदी, जब हमार कड़ियल जवान मामा गवा रहा, हमार नानी रातभर चकिया पीसत रही। हम उठिन कि तनी नानी का हाथ बंटा दें, मार घुड़क दिहिन हमका, कहिन, 'जा भाग जा, सो जा रतिया, हंम का चकिया पीसत हैं?' हम तो अपना दुख भुलाय रहिन!"

जीवन में पहली बार, अपने उस लेख को बिना दूसरी बार देखे मैंने ज्यों का त्यों 'नवनीत' में भेज दिया था—'बांधीश ने आर मायार डोरे,' और जब सैकड़ों प्रशंसकों-पाठकों ने मुझे उस लेख के लिए बधाई के पत्र लिखे तो लगा, कैसी सवा लाख की सीख दी थी उस अनपढ़ नारी ने! लेखनी की चकिया पीस न केवल मेरे दुख की गठरी हल्की हुई, मुझ जैसे अनेक विधुर आहत हृदयों का भी दुख हल्का हुआ था।

कभी-कभी उसकी दार्शनिकता देख अवाक रह जाती। एक दिन मैंने कहा, "रामरती, इस जीवन में तो मैंने किसी का बुरा नहीं किया, फिर भगवान ने मुझे यह दंड क्यों दिया?"

वह एक क्षण को निर्वाक मूर्तिवत बैठी रही, फिर बोली, "हम का इसी जिनगी का किया भोगत हैं दीदी? अरे, पिछले जनम का हिसाब भी तो चुकता किए का परीं! अब तुम जो दिन-रात तंबाकू खात हो, तोहार बिटिया-बिटवा कहत हैं—रामरती, दीदी का तंबाकू छुड़ाय दे, डिबिया छिपा दिया कर, कैंसर होत है—हम का छिपा सकिन हैं आज तलक? आपहु हमें दिन-रात डांटत हैं कि बीड़ी मत पी, कलेजा मत फूंक, सो हम का छोड़ सकिन हैं? अरे, ई सब उई जनम केर

अमल हैं, सब हमार करनी का अमल। रोग, जर-जमीन केस-मुकद्दमा, फांसी, जेल, अमल सब सूद हैं सूद—उह जनम में लिए रहे, इहु जनम में चुकाय रहिन हैं। बड़ा जालिम सूदखोर महाजन है भगवान, जान्यो दीदी! जब तक एक-एक धेला न वसूली, छोड़ि है नांही।''

मैं आश्चर्यचकित हो उसकी बातें सुन-सोच रही थी—न इसने कभी कोई धर्मग्रंथ पढ़े, न मनीषियों की पंक्तियां ही सुनीं, किंतु फिर भी उनके मनन-चिंतन से उसकी सरल विचारधारा का यह कैसा अद्भुत साम्य था!

रोगं शोकं परितापं
बंधनं व्यसनानि च
आत्मापराध वृक्षस्य
फलानेतानि देहिनाम्।

रोग, शोक, परिताप, बंधन, व्यसन सब हमारे ही अपराध वृक्ष के फल हैं—चाहे इस जन्म के हों या उस जन्म के।

घाघ, भड्डरी सदा उसके जिह्वाग्र पर रहते। मैं कहीं जाने को होती और घटाटोप मेघांधकार देख छतरी लेने लगती तो वह कहती, ''का करिहो छतरी, जाओ, बेहिचक जाओ, बरसिहै नांही, कारी बदरी है—कारी बदरी जिया डरायै... भूरी बदरी जल बरसायै।'' उसके मौसम विभाग की सूचना कभी ग़लत नहीं निकलती। मैं नित्य करेला खाती थी, पर मजाल है कुंआर में यह धृष्ट फ़रमाइश कर सकूं—''नाहीं, हम न देव। जानती हो—'कुंआर करेला, कातिक दही... मरिहैं ना तो परिहैं सही'।''

कुंआर में करेला खा लिया तो मरूं भले ही नहीं, बीमार अवश्य पड़ जाऊंगी!

आज मुझे असंख्य सीखों के कवच के सेंतनेवाला कोई नहीं है। मैं चिलमिलाती धूप में लौटती तो वह मेरे प्रत्यावर्तन का समय सूंघ, अपने दक्ष हाथों से मंजा, दर्पण सा शीतल जल पूरित कांसे का लोटा

लिए खड़ी रहती "ल्योउ, पहिलै ठंडाय लो।" प्रायः ही गर्मी में लखनऊ की बिजली किसी दग़ाबाज़ मित्र सी चली जाती। किंतु सिर के ऊपर फरफराता बिजली का पंखा अचल होने पर आंखें खुलतीं तो देखती, विजना डुलाती सींक सी दुबली कलाइयां निरंतर सचल हैं। मेरे लाख मना करने पर भी वह मेरे सिरहाने बैठी तब तक पंखा झलती रहती जब तक बिजली न आ जाए!

जब मैं दिल्ली से पद्मश्री लेकर लौटी तो वह द्वार पर बेले-गुलाब का हार लिए स्वागत के लिए खड़ी थी। अपनी संचित सीमित धनराशि से उसने हार ही नहीं मंगवाया था, लड्डू भरी प्लेट से एक लड्डू मेरे मुंह में धरा तो मेरी आंखें भर आई थीं। जहां मेरी साहित्यिक बिरादरी से इक्के-दुक्के ही ने मुझे बधाई दी थी, वहीं उस अनपढ़ सरला सेविका का उल्लास संभाले नहीं संभल रहा था। फिर कुछ ही दिनों बाद अचानक मेरे दाहिने हाथ में असह्य दर्द उपजा। क़लम भी नहीं पकड़ पा रही थी। उधर 'धर्मयुग' से दो तार आ चुके थे कि मैं दीवाली अंक के लिए अविलंब ताज़ा कहानी भेजूं। "रामरती, लगता है अब कभी नहीं लिख पाऊंगी।" मैंने कहा तो वह तुनककर बोली, "न लिखें तोहार दुश्मन! अरे, हम जानित हैं का हुआ, नजरिया गया है हाथ, ई जौन पदमसिरी पाए हो, सब जल-भुन गए हैं, अतवार को हम नजर उतारीं।"

उस इतवार को जब मेरे कमरे में कुछ शालीन अतिथि बैठे थे, "ए दीदी, सुनो तनीं," कह उसने मुझे इशारे से बुलाया। देखती क्या हूं कि एक हाथ में लोहे के कलछुल में दहकते अंगारे लिए, दूसरी मुट्ठी में मिर्च, चून, भूसी बांधे रामरती खड़ी है, "बोल्यो नांही, हम नजर उतारब।" उसने सात बार मेरे घायल हाथ की परिक्रमा कर मुट्ठी में बंधी मिर्चें अंगारों में झोंक दीं। भयानक खखार उठी कि मेरे अतिथि खांसते-खांसते बेदम हो गए, "लगता है, आग में मिर्चें चली गई।" एक ने कहा।

मैं किस मुंह से कहती कि मेरे नजरिया गए हाथ की नज़र का ही उन्हें यह मूल्य चुकाना पड़ रहा है। आज जब एक बार फिर वही दाहिना हाथ अस्थिभंग के कारण अचल पड़ा है तो उसकी नज़र उतारने वाली बहुत दूर चली गई है।

उसे इधर-उधर घूमने का बेहद शौक़ था। दस वर्ष की थी तो विवाह हो गया। सौतेली सास थी। पति को शराब ने बर्बाद कर दिया था। उधर कच्ची वयस में ही धारावाहिक प्रसवों ने उसे प्रौढ़ा बना दिया था। कई घरों में काम किया, तसलों में गारा-चूना ढोया, छतें पीटीं, घास बेची, किंतु भरी जवानी में भी कभी किसी प्रलोभन की अबरकी चट्टान पर पैर नहीं फिसलने दिया। दिन-रात ढोल-दमामे सी पीटी जाती, ननिहाल में सब कुछ था, स्वयं उसी के शब्दों में, ''जब नानी सुनिन कि 'फलाने' (वह कभी अपने पति का नाम नहीं लेती थी) हमार गत बनाई डारिन तो या नोटन की मोटी गड्डी थमाकर कहिन, 'रतिया, छोड़ दे इस मनई को, ननिहाल चली आ, हम तोहार अंतै घर बसाय देव!' हम कहिम—'ख़बरदार, जो कबहु इहु बात दोहरायो। मगर मनसेधू हैं, हमार अंगूठा पकड़िन हैं, हम का अइसन छोड़ देईं? छोड़ें तो ऊ छोड़ें, हम काहे छोड़ीं'?''

इस युग में कितने अंगूठे ऐसे स्वामिभक्त रह गए हैं!

मैं देखती, उसका पति कभी-कभी पूरी तनख़्वाह ही मधुशाला में लुटा, लड़खड़ाते क़दमों से घर लौटता। कभी ख़बर आती, वह बेहोश किसी नाले में पड़ा है। वह फ़ौरन भागती, उसे रिक्शा में लादकर घर लाती, सिर पर ठंडा पानी डालती, वमन पोंछती। और थाली परसकर चुपचाप उसके सामने रख देती। वह मदालस जिह्वा के प्रहार से धरती सी सहिष्णु पत्नी को ही धराशायी नहीं करता, एक लात मार थाली भी दूर पटक देता, और वह रोती-रोती मेरे पास लौट आती, ''फलाने

आज फिर नशे में 'डौन' हैं दीदी, पूरी तनख़्वाह कोई निकाल लिहिस है जेब से—अइसन-अइसन महतारी-बहिनियां न्यौत रहें कि बस!"

"और तू रोज़ उसका चरणामृत पीती है, जा, फिर पी आ!" मैं उसे कई बार सोए पति के पैर धोकर आचमन करते देख चुकी थी। किंतु उस अटूट पतिभक्ति का उसे पुरस्कार भी मिला। शायद उसी की असंख्य मनौतियों से पति की शराब की लत हमेशा के लिए छूट गई। जिस पत्नी के यौवन अंकुर को उसने अपने रूखे आतप से असमय ही सुखा दिया था, उसे वह अब उसकी प्रौढ़ावस्था में यत्न से सींचने लगा था। वह भी अपना क़र्ज़ा ब्याज सहित वसूलने लगी थी। मेरा काम निबटाकर वह घर जाती, तो बड़े दबंग स्वर में बीसियों आदेश देने लगती, "फलाने, हमार बिस्तर लगाय देव, अउर तनी ठंडा पानी पिलाओ तो हम लेटी!" फिर एक दिन अचानक वह सब काम स्वयं करने लगी। मैंने पूछा, "क्यों री, अब तू हुकुम नहीं चलाती अपने फलाने पर?"

"का बताई दीदी, एक दिन अम्माजी (मेरी मां) बरामदे में खड़ी देख रही थीं। फलाने हमार पेटीकोट धोकर फैलाय रहे थे, बस्स, अम्मा जी उन्हीं से गरजीं, 'काय री रामरती? ख़सम निठल्ला कूटे धान... बीबी नरंगी चाबै पान! शरम नहीं आती तुझे?' उई दिन से हम कान पकड़िन दीदी—इनसे काम न कराब!" फिर भी वह रौब जमा ही देती। कभी-कभी वह भुनभुनाकर कहता, "हम जानत हैं, रतिया, तू खूंटे के बल पर नाचत है!" स्पष्ट चोट मेरे ही खूंटे पर है, मैं यह समझ जाती।

"अउर का, तू हमका अब छूकर तो देख, दीदी चट्ट से अखबार में छपवा देहीं।" पर पति-पत्नी दोनों ही मुझे भवानी सा पूजते थे। दिन-रात रामरती मेरी छाया बनी रहती, फिर भी उसके पति ने कभी मुझे उलाहना नहीं दिया। मैंने बाली की हृदयहीनता से उसकी पत्नी

को छीन लिया था फिर भी न कोई शिकवा, न गिला। मैं ही उसे कहती, "तू दिन-रात यहीं रहती है, बेचारा थका-मांदा दफ़्तर से आया है। जा ज़रा उसके पास बैठकर हंस-बोल आ!"

"अब का हंसी दीदी?" वह एक दीर्घ श्वास लेकर कहती, "जब हंसी के दिन थे तब तो हंसिन नांही। हम जाब तो मार भुन्न-भुन्न करें लगिहैं।" सचमुच ही दोनों बिना जूझे एक पल भी नहीं रह सकते थे—कभी वह ताना मारता, कभी यह। वह सेर था तो रामरती सवा सेर! पर एक-दूसरे के बिना रह भी नहीं सकते थे।

मैंने एक दिन कहा, "मुझे और नहीं तुझे ठौर नहीं वाला हिसाब है तुम्हारा। पर तू भी तो कम नहीं है। छौंक तो तू भी ख़ूब लगाती है। चुप क्यों नहीं रहती?"

"बिना छौंक के का दाल नीक लगत है दीदी? मनई से तनी खट्ट-पट्ट रहे तब ही जिनगी में खन्नक रहता है।"

कितना सत्य कथन था उसका! उसकी दृष्टि में 'तनी खट्ट-पट्ट' वैवाहिक जीवन के अजीर्ण अपच का रामबाण पाचक था। "ई का कि दिन-रात मनसेधू के गले में गलबंहिया डारै पड़े रहो। हम इत्ती मार खाइन हैं, तब ही तो अब हमका पान के पत्ते सा फेरत हैं फलाने।"

अपनी दुबली कलाई में उसने वर्षों पूर्व एक दर्शनीय गोदान गुदाया था—गमले में गुलाब का पौधा, राधाकृष्ण की युगल जोड़ी और ऊपर लिखा पति का नाम फिक्कूलाल! समय के साथ-साथ बैंजनी स्याही प्रगाढ़ होती जा रही थी और वैसे ही प्रगाढ़ होते जा रहे दोनों के प्रेम को देख मैं कभी-कभी शंकित हो उठती। क्या दोनों ही मन ही मन मान गए हैं कि अब उस सुदीर्घ साहचर्य का अंत समीप है?

एक दिन उसने मुझसे पूछा, "ऐ दीदी, हवाई जहाज में बैठे पै कइसन लगत है?"

"तू कभी नागर दोले में बैठी है? जब जहाज उतरता है तो ठीक वैसा ही लगता है।"

"अरे बईठन काहे नांही, उंही तो हम पहली बार फलाने को देखे रहिन।" और फिर उसने मुझे अपनी कोर्टशिप की रोचक कहानी सुनाई थी। अपनी बात प्रभावशाली ढंग से कहने की जो विलक्षण क्षमता विधाता ने उसे दी थी, वह इतने वर्षों तक क़लम घिसने पर भी मैं शायद आज तक प्राप्त नहीं कर सकी हूं।

"गुढ़ियन का मेला लगा रहा। हम रहे होंगे यही कोई दस बरस केर। मेला गए तो जिदियाय गए। अम्मा, हम चरखी पर बैठब!"

फिर उसी के शब्दों में उसकी सज्जा का वर्णन सुनिए, "हाथ भर चूड़ियां पहनाइन थीं अम्मा, फूलदार कन्नी की नई साड़ी पहने रहे; माथे पर टिकुली, आंखिन मां काजर, मिस्सी, पायल, लच्छा। खूब पान गुलगुलाए रहे, हमका का पता कि ऊपर के कोठे में फलाने बइठे हैं—हम का कौनौ देखै रहे इनका?

"झूला चला और बस्स, फलाने टपकाई दिहिन खुशबूदार रूमाल! हमार तन-बदन में आग लग गई। हम खूब गरियाव लाग, 'ऐ दाढ़ीजार, मुसकिया के रूमाल काहे डालिस हमारी गोद में? तेरी खटिया उठै! न जाने कहां से आय गवा गुंडवा!' हमार अम्मा हमें आंखी दिखाइन, 'अरी चुप कर, इन्हीं से तो तोहार बात लगी है,' फिर तीसरे दिन हम अकेली कुएं से पानी खींचत रहीं तो देखिन फिर ही रेशमी रूमाल जेब से लटकाय खड़े हैं। कहिन—ए लड़की पानी पिला! हम कहिन—तोहार बाप केर नौकर हैं का? बोले—अउर का! एक न एक दिन हमार नौकरी करबाई परी। अउर फिन अइसन नौकरी करवाइन बाप-बिटवा कि का कही!"

फ़िल्म देखने का उसे बेहद शौक़ था। उसके प्रिय अभिनेता थे नागेंद्र और अमिताभ बच्चन, जिनके लिए उसके अपने नाम

थे—धरमेंदुआ अउर अमितभुआ। मैं कुछ वर्ष पूर्व मुंबई आने लगी तो वह बीमार अमिताभ की रोगमुक्ति के लिए इधर-उधर मन्नतें मांग डोरे बांधती फिर रही थी। कभी खम्मन पीर कभी सैयद बाबा की मज़ार! मुझसे बड़ी उत्कंठा से उसने पूछा, "काहै दीदी, अमितभुवा से मिलिहो?"

"क्यों?" मैंने पूछा।

"मेरी दीदी, कहियो बचुआ, रामरती बहुत याद करत रही।"

मुझे उसके सरल संदेश पर तब हंसी आ गई थी। जिसे उसने कभी सशरीर देखा भी नहीं था, उसके लिए वह ममत्वपूर्ण संदेश! पर मैंने भी उसका संदेश अमिताभ तक पहुंचा ही दिया था। दूरदर्शन चालू होता तो वह कृषि दर्शन से लेकर अंत तक प्रत्येक कार्यक्रम देखती। रामायण में तो उसके प्राण अटके रहते। आठ ही बजे से हाथ में फूल लेकर बैठ जाती और आरंभ होते ही ज़मीन पर दंडवत की मुद्रा में लेट फूल चढ़ाकर ज़ोर से कहती, "सियावर रामचंद जी जै!" राम की मुस्कान पर वह मुग्ध थी। कहती, "जान्यो दीदी, तीन ही जनी गजब की मुसकी छांटत हैं, रामायण केर राम, राजीव भैया और हमार राधिका बिटिया (मेरी दौहित्री)!"

राजीव गांधी लखनऊ आते, तो हो न हो, उन्हें हमारे ही गृह के पास की सड़क से गुज़रना पड़ता, हवाई अड्डे का वही एकमात्र मार्ग था। रामरती उस दिन मुझे सुबह ही नोटिस दे देती, "आज हम राजीव भैया को देखे जाब, काम ना होई हमसे।" और फिर, "दीदी, कउन सी साड़ी पहनें?" वह ऐसे पूछती जैसे उसके राजीव भैया उसी से मिलने आ रहे हों। रवींद्रनाथ की 'राजार दुलाल' कविता क्षण भर को जैसे साकार हो उठती:

> ओगो मां
> राजार दुलाल जाव आजी

मोर घरेर समुख पथे–
आजिए प्रभाते गृहकाज लये
रहिबो बलो कीमते?
बले दे आमाय की करीबो साज
की छांदे कबरी बेंधेलब आज
परीबो अंगे कैमन भंगे
कोन बरने बास?

(अरी मां, राजा का दुलाल आज मेरे घर के सामने वाले पथ से गुज़रेगा, आज सुबह, तुम्हीं बताओ मैं घर का काम-काज कैसे कर सकती हूं? बता दे न मां, मैं कैसा शृंगार करूं, कैसे चोटी गूथूं, कौन सी, किस रंग की साड़ी पहनूं?)

मा गो की होलो तोमार?
अवाक नयने मुखपाने कैन चास
आमी दांड़ाब जेथाय
वातायन कोने
से चाबेना सेथा
ताहा जानी मने
फेलिबे निमेष दैखा हबे शेष
जाबे से सुदूर पूरे
शुधू सगरे बांशी कोन माठ हते
बाजिबे-व्याकुल सुरे
तबू राजार दुलाल जाबे आज
मोर घरेर समुख पथे
शुधू शे निमेष लागी
ना करिया वेश रहिबो
बलो कीमते!

(अरी मां, क्या हो गया तुझे? ऐसे क्यों देख रही है? मैं उस कोने में खड़ी रहूंगी, जहां वह देखेगा भी नहीं, वह उधर ताकेगा भी नहीं, यह मैं जानती हूं। एक पल में वह झांकी समाप्त हो जाएगी। वह सुदूर नगर में चला जाएगा। केवल दूर कहीं व्याकुल स्वर में वंशी बजती रहेगी। तब भी राजा का दुलारा कुंअर आज जब मेरे घर के सामने के रास्ते से जाएगा तो मैं उसी क्षण के लिए बिना शृंगार किए कैसे रह सकती हूं, तुम्हीं बताओ!)

हाथ में गुलाब का फूल लिए बेचारी रामरती घंटों राजा के दुलाल की प्रतीक्षा में खड़ी रहती और दर्शन कर तृप्त होकर लौटती।

मेरे साथ वह बहुत घूमी थी। मुंबई, बनारस, कानपुर, रीवा। जो विश्वविद्यालय मुझे बुलाता, वह पहले ही अपनी गठरी बांध तैयार हो जाती, मैं यदि ए.सी. में जाती तो वह मेरे ही डिब्बे में बैठती, ‘‘देखो, रामरती, तुम वहां बीड़ी नहीं पियोगी—समझी?’ मैं कहती। यह उसके लिए बहुत बड़ी सजा थी। फिर ट्रेन चलते ही पुराना अमल उसे बेचैन कर देता।

वह मेरे कानों में फुसफुसाकर कहती, ‘‘ए महतारी, मार जमुहाय लगे हैं, गुसलखाने में सुट्टा खींच आईं?’’ ‘‘जा मर!’’ मैं झुंझलाकर कहती तो वह तीर सी भागती।

न जाने कितनी बार मैंने उसकी बीड़ी के बंडल छिपाए हैं। न जाने कितनी बार डांटा-फटकारा है। पर उसने कभी पलटकर जवाब नहीं दिया। उसके तीव्र विरोध के बावजूद मैंने उसकी दो पुत्रियों को पढ़ने भेज दिया था। उसकी बिरादरी में उसकी पुत्री ही संभवतः प्रथम ग्रेजुएट थी। इसका उसे गर्व था, किंतु चिंता भी थी, ‘‘अब इत्ता ही पढ़ा-लिखा लड़का भी तो चाही। कहां पायी आपन बिरादरी में!’’

मैंने ही उसकी उस पुत्री को 7 वर्ष वयस से पाला था। उसने

कहा था, "अब तुम्हीं इसकी अम्मा हो, कन्यादान करे का परी।"

ईश्वर ने उस कर्तव्य को निभाने की शक्ति दी। अपने जीवन का वह चौथा कन्यादान भी संपन्न किया। विवाह मेरे ही घर से हुआ। ऐसी पुष्ट बरात स्वयं मेरी तीन पुत्रियों के विवाह में भी नहीं जुटी। हलवाई भी बैठे, शामियाना भी लगा, बिजली के लट्टू भी जगमगाए। यहां तक कि बरात में सजे-संवरे मत्त गयंद भी पधारे, जिनकी आरती उतारने में बेचारी रामरती थरथर कांपने लगी। उसने शायद कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि कभी उसके द्वार पर हाथी खड़ा होगा। पुत्री विदा हुई तो वह मेरे पैरों में गिर पड़ी। कृतज्ञता के वे आंसू एकदम अंतस्तल से निकले विशुद्ध आंसू थे। "आज हम गंगा नहाय लिहिन, महतारी!"

पर पुत्री के विवाह के बाद उसका स्वास्थ्य गिरता ही जा रहा था। मैंने कहा, "रामरती, यह क्या हो गया है तुझे? रोज़ बीमार—कभी तू और कभी मैं!"

उसका म्लान चेहरा एक बार फिर पुरानी चुहल की रेखाओं से उद्भासित हो उठा, "जान्यो दीदी, अब हम दूना केर ओवर-हॉलिंग कराए का है, टूब-टायर दूनों बदलवैया हैं।"

पर अचानक, वह अकेली ही मुझसे मिले बिना ट्यूब-टायर बदलवाने चली जाएगी, यह मैंने नहीं सोचा था। यद्यपि मुझे उसके चिर प्रस्थान की शंका होने लगी थी। लंबे प्रवास के बाद लौटी तो वह खाट पकड़ चुकी थी—कंकाल सी देह, जैसे कोई दस-बारह साल की बच्ची पड़ी हो। फिर भी चेहरे पर वही स्निग्ध हंसी, "दीदी आई गईन। अब हमका कछु ना होई।"

उसका यह विचित्र विश्वास था कि मेरे रहने पर उसे कुछ नहीं हो सकता। जाएगी तो मेरे न रहने पर। दो बार मैं उसे सचमुच ही मौत के मुंह से खींच लाई थी। एक बार जब वह रक्त-वमन कर

अचेत हो गई तो मैं तत्काल एंबुलैंस में अस्पताल ले गई थी। दूसरी बार जब संभवतः उसे पहला दिल का दौरा पड़ा था। "ऐ दीदी, बचाय लो हमें, बड़ा जीव घबड़ा रहा है।" उस दिन भी उसे ईश्वर ने छोड़ ही दिया था। संध्या होते ही वह फिर चैतन्य हो गई, "हम जानत हैं महतारी, जमऊ ससुर आपसे डरात हैं..."

उसकी दृढ़ धारणा थी कि मृत्यु की उत्क्रांति या शक्ति मेरी मुट्ठी में बंद रहती है—जब चाहूं यमराज को समझा-बुझाकर वापस भेज सकती हूं। इसी से जब इस बार लखनऊ छोड़ा तो वह रोने लगी, "ऐ मोर महतारी, हमका छोड़ के न जाओ।"

मैं उसकी निरंतर गिरती अवस्था को देखकर भी रुक नहीं सकती थी। जिन-जिन लक्षणों के विषय में पढ़ा था, वे स्पष्ट उभर रहे थे। बाईं आंख से निरंतर पानी गिर रहा था, कानों की लोरियां पलट गई थीं, नाक टेढ़ी लगने लगी थी, सिर के बाल साही के कांटे से खड़े हो गए थे। मैं जान गई कि लौटकर इस स्वामिभक्त सेविका को कभी नहीं देख पाऊंगी। मैं नित्य उसके पास बैठती, उसके सींक से पैर सहलाती जो वह अर्धचैतन्यावस्था में भी चट से ऊपर खींच लेती। "अब नरक में काहे ढकेलत हो दीदी, हमार गोड़ जिन छुओ..."

मैं जिस दिन उससे अंतिम विदा लेकर लौटी तो उसने बड़े कष्ट से अपने दोनों हाथ माथे से लगा लिए। एक बार मुड़ी तो देखा, वह करुण, विवश, असहाय अश्रुपूरित दृष्टि मुझे एकटक देख रही है।

जिसने न जाने कितनों की छोटी-मोटी व्याधियां दूर कीं, वह पल-पल मृत्यु से पराजित हो रही थी। उसके जड़ी-बूटियों के ज्ञान की ख्याति दूर-दूर तक थी। आए दिन भीड़ जुटी रहती—कभी बच्चे के दांत बिठाने, कभी उखड़ी हंसुली, कभी खिसकी नाभि। और कमर की हूक दूर करने में तो उसे विधाता का वरदान प्राप्त था। "हम उलटे जनमे हैं।" वह बड़े गर्व से कहती, "एक लात धर मरीज को

दौड़ाय देईं तो कइसनऊ हूक हो, साफ।" वह उपचार वह अपनी भाषा में केवल 'अतवार मंगल' को ही करती। वह दृश्य भी देखने लायक़ होता। जब कमर थामे, कांखते-कराहते मरीज़ आते। वह ठाठ से कमर पर लात जमाकर कहती, "जाओ, तेजी से भागो।" रोता रोगी हंसता हुआ ही जाता। एक दिन इतवार को बड़ी देर से आई। मरीज़ों की भीड़ उस दिन कुछ अधिक थी। मैंने फटकारा, "यह क्या ढोंग है? या तो डॉक्टरी ही कर ले या मेरी नौकरी!"

"का करी दीदी, आज कमर थामे एक अकड़बाज थानेदरुआ आबा रहा। पूछत है, 'सुना तुम कमर की हूक ठीक करती हो। हमारी हूक ठीक कर पाओगी?' हम कहिन, 'ल्यो, बड़े-बड़े डूबी गए, गदहा पूछै कित्ता पानी! कइसन-कइसन ब्रिगेडियरन की, पुलिस कप्तानन की हूक ठीक किए हैं।' हम कहिन, चलो खड़े हो जाओ और अइसन लात धरिन महतारी, कि ओकर सब थानेदारी भुलाए दिहिन!"

अब इस सरस कैफ़ियत के बाद किस मुंह से डांट सकती थी उसे? किंतु जब एक बार मेरी कमर में हूक पड़ी तो लाख चिरौरी करने पर भी उसने मेरी कमर पर प्रहार नहीं किया, कान पकड़कर जीभ काटकर बोली, "राम-राम! हमका मत कहो दीदी। हम मर जाई पर ई काम नांहि कर सकत!"

ख़ूनी पेचिश, कान-दाढ़ का दर्द, सब टोटके उसके आंचल की गांठ में बंधे रहते। मेरी संतान उसे अपनी संतान से भी प्रिय थी। मेरी बेटियों को बड़ी होते देखा था। उनके विवाह देखे, फिर उनके बच्चे देखे। बनठन छोचक की परात सर पर धरे उनकी ससुराल गई। नेग-निछावर लिया। मेरी सबसे छोटी लड़की के दो जुड़वां बेटों में तो उसके प्राण बसे थे। फ़ैज़ाबाद जाकर उनके साथ महीना भर रह आई। "अरे हम दूनो को बेबी गाड़ी में घुमाबे ले जाएं तो भीड़ लग जाए, लोग पूछें, 'अरी केकर बिटवा हैं री?' हम कहती, 'राज रामचंद केर जोड़िया हैं। लव-कुस!"

अंग्रेज़ी शब्दों का उसका अपना मौलिक कोश था। वाइस चांसलर को 'वाइस टांटलर,' 'ब्लिट्ज' को 'बिलडप्रेशर,' फैंटा को 'एलिफैंटा' और गोर्बाचोव को 'करवाचौथ'! एक बार टेलीफ़ोन पर कोई सिरफिरा मुझे बेहद परेशान करने लगा। वह भी रात-आधी रात को। कभी रामरती की लड़कियों के नाम लेता, कभी मुझसे कहता, "लिखना बंद करो, हम उग्रवादी हैं, तुम्हें ख़त्म कर देंगे।"

एक दिन रामरती बोली, "महतारी, अब फून आए तो तुम मत उठाना। हम उग्रवादी की खटिया खड़ी करब।"

आधी रात को फ़ोन बजा, उसी ने उठायाः

"हैलू, कौन है रे?"

उधर उद्धत स्वर ने पूछा, "शिवानी जी हैं?"

"हां हैं।"

"क्या कर रही हैं?"

"तोहार अरथी सजाय रही हैं।"

उसने फिर कुछ कहा, तो वह ज़ोर से गरजी, "यू ब्लाडी बास्टर्ड!" और फ़ोन्न रख मेरी ओर बड़े गर्व से मुस्कराकर बोली, "अपने ससुर से सीखी रहिन ये गाली। अंग्रेजन के खानसामा रहे हमार ससुर। अंग्रेजी समझत होई, तो अब चुप्पे रहब सरऊ!" उसके ससुर से सीखी वह गाली बड़ी अचूक निकली। फिर उस सिरफिरे ने कभी परेशान नहीं किया।

उसकी मासूम सरलता की एक मार्मिक घटना मुझे कभी नहीं भूलती। मैं अपने पति की क्रिया कर हरिद्वार से लौटी तो अपना ही घर मुझे बियाबान लग रहा था। नींद नहीं आ रही थी। मैं बरामदे में कुर्सी डालकर बैठी थी। सहसा पालतू बिल्ली सी वह मेरे घुटनों से कपोल सटाकर बैठ गई, "जान्यो दीदी, आप नहीं रहीं तो साहेब रोज आवते रहें..."

मैं चौंकी, "क्या बक रही है, रामरती?"

"यकीन मानो दीदी, रोज संझा को आएं और आपके कमरे के दरवज्जे पर उचककर बैठ जाएं।"

फिर बताने लगी कि नित्य संध्या को एक चिड्डा लगातार दस दिनों तक चुपचाप दरवाज़े पर बैठ जाता और टुकुर-टुकुर देखता रहता। न संग में गौरैया न कोई चिड्डा। "रात होती तो हम दीया जलाकर देहरी पर रख आती, फिर हाथ जोड़कर कहती, साहेब, अब बड़ी अबेर हुई गई, अब लौटा जाई।' बस, फर्र से चिड्डा उड़ जाता।"

मैं उस दृश्य की कल्पना कर सकती थी। द्वार पर बैठा चिड्डा और नन्हा सा घूंघट निकाले, दोनों हाथ जोड़े खड़ी रामरती--साहेब, अब बड़ी अबेर हुई गई है, लौट जाई।

न मैं उस दिन हंस पाई थी, न फिर कभी। पूछा उससे एक दिन अवश्य था, "क्यों री, फिर तेरे साहेब नहीं आए?"

"अब काहे आएं महतारी, पीपल पानी पाए गए हैं।"

पुत्री के विवाह के पश्चात उसके सामने कर्तव्य निर्वाह के वे कठिन क्षण एक-एक कर आने लगे जो हर मां के जीवन में आते हैं। आज खिचड़ी भेजे का है, करवा भेजे परी, दामाद का जोड़ा, आज गुढ़ियां हैं। वह नित्य नवीन फ़रमाइश लेकर मुझे घेर लेती। मैं कभी-कभी बुरी तरह झुंझला उठती—"खा लिया है तूने, मुझे? मेरे पास क्या रुपयों की खान धरी है! और कहीं क्यों नहीं जाती?"

वह निशब्द सिर झुकाए खड़ी रहती फिर विवश स्वर में कहती, "अउर कहां जाएं महतारी?" आज गुरुदेव की वे पंक्तियां मुझे पश्चाताप से विगलित कर देती हैं:

कैनो रे तोर दू हाथ पाता
दान तो चाई ना, चाई जे दाता।

(अरे मेरे मन, तूने मांगने दो हाथ क्यों फैलाए हैं, मुझे दान नहीं चाहिए दाता चाहिए)

शायद मुझमें वह दाता ही पाना चाहती थी, उसने कभी मुझसे दो वचन लिए थे—एक उसकी पुत्री का कन्यादान करूं, दूसरा हम जब घाट जाएं दीदी, तो आप ही के पहुंचाएं परी। "फलाने के पास तो वा दिन भी पैसा रहे ना रहे! अउर बिटिया-दामाद के करज का कफन हम ना ओढ़ब।"

वह मेरी सच्ची सेविका थी। इसी से शायद मैं अपने दोनों वचन निभा पाई। उसकी देह शायद ठंडी भी नहीं पड़ी होगी कि मुझे बहन का फ़ोन मिल गया। तत्काल मैं उसके महाप्रस्थान के आरक्षण का प्रबंध कर पाई थी। इस ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पति का श्राद्ध हुआ, तो उसका अभाव खटका। तड़के ही नहा-धोकर, मेरे गृह की देहरी गोबर से लीप, वह गोग्रास खिलाने आ खड़ी होती। एक बार मेरा पुत्र अपने पिता का श्राद्ध कर रहा था तो मैंने देखा, आंखें पोंछती रामरती उसे एकटक देख रही है। बाद में मैंने पूछा, "रो क्यों रही थी री? क्या फिर साहेब को देखा?"

"नांही दीदी, भैया कइसन पिरेम से नंगे बदन सराध करत रहें। हमार बिटवा जिया होता, तो इत्ता ही बड़ा होता, बअ हम मरि जाईं, तो को देई हमें पानी?"

"क्यों, तेरी बेटियां हैं, बेटियों के बेटे हैं..."

"दीदी की बातें... आपन बिटवा आपन होत! बिटियन केर बिटवा का हमार होई? सुन्यो नहीं—धी का पूत, गधी का मूत!"

मुझे हंसी आ गई थी।

पर आज नहीं हंस पा रही हूं, जब मेरा पुत्र श्राद्ध संपन्न कर एक-एक कर पितामह-मातामह, पितामही-मातामही सबका स्मरण कर तिलांजलि दे रहा था और पंडित जी कह रहे थे, "आपके जो भी

प्रिय दिवंगत बंधु-बांधव हों उन्हें भी स्मरण कर जल दीजिए।" जी में आ रहा था कहूं, एक तिलांजलि उसे भी दे दे, जो इष्ट मित्र न होकर भी मुझे पुत्री सी ही प्रिय थी। पर कैसे कह सकती थी, हिंदू धर्म का व्याकरण बड़ा जटिल है। उसमें सामान्य सी फेरबदल संभव नहीं है। मैं स्वयं नारी हूं, किसी का श्राद्ध संपन्न करने के अधिकार से वंचिता। क्या दक्षिणाभिमुख हो, यज्ञोपवीत दाहिने कंधे पर रख प्राचीनावीती करना संभव है मेरे लिए? तिल-जल-भृंगराज एवं तुलसी दल रख उसे वह पूरक पिंड दे सकती हूं जो उसे प्रेत योनि से मुक्त करे? पर इतना तो कह ही सकती हूं, *अनादिनिधनो देव शंख चक्र गदाधरः, अक्षयः पुण्डरीकाक्षो प्रेत मोक्षप्रदो भव।*

अंतिम अध्याय

अपने लखनऊ के जीवन से दिद्दी को कितना लगाव था इसका आभास मुझे तब हुआ जब मैंने उसकी यादों को इस पुस्तक में संजोना शुरू किया। लखनऊ में उसे अपने ढंग से अपना जीवन बिताने की आज़ादी थी। ऐसी आज़ादी उसे हमारे सुव्यवस्थित लेकिन शुष्क घरों में नहीं मिल पाती थी। नियम, कानून, व्यवस्था उसे सुस्त और उदास बना देते थे। उसे पसंद था हल्ला-गुल्ला, नौकरों का कोलाहल और जहां यह सब नहीं होता वहां से उसका मन कुछ ही दिनों के बाद उचट जाता था। जब से मैंने होश संभाले, दिद्दी के इर्द-गिर्द हमेशा एक ऐसी ऊर्जा पाई कि उससे अनछूआ रह पाना असंभव था। मसलन, जब दिद्दी रसोई में जाती, उसकी सेवा में दो बंदे हाज़िर रहते। करछी न मिले, किसी बोतल का ढक्कन न खुले, तो दिद्दी का पारा चढ़ जाता था। हो हल्ला मचता, सारा घर कांप उठता, रसोई में यहां से वहां तक बर्तन और मसाले फैले रहते, लेकिन खाना ऐसा बनाती थी दिद्दी कि आप उंगलियां चाटते रह जाते। मीनू का कहना था कि यदि दिद्दी को कभी ठोकर लग जाती तो गुस्से में सामने जो बच्चा उसे मिलता था, उसे वो एक थप्पड़ जड़ देती थी। धैर्य तो दिद्दी में था ही नहीं।

यही वह कारण था कि उसे लखनऊ बेहद पसंद था। वहां उसे टोकने वाला कोई न था। अपने मुसाहिबों के बीच उसे उनका पूरा समर्थन ही नहीं, उनकी पूरी सेवा का आनंद मिलता था। उनके लिए दिद्दी एक मसीहा थी, अपने दरबार में सिर्फ़ उसी की ही चलती थी। लेकिन जहां वह इस दरबार से हटी

तो उसे लगता था कि उसका अस्तित्व ही बदल जाता था। किसी अन्य घर में मेहमान बनकर रहना या किसी के चाल-चलन में अपने को ढालकर रहना उसे नामंज़ूर था। यदि हम उससे मिलने लखनऊ जाते रहते तो उसे बहुत संतोष होता लेकिन धीरे धीरे जैसे हम अपने काम-काज व घर गृहस्थी में उलझते गए हमारा वहां जाना कम होता चला गया। दिद्दी ने इस कटु सत्य को स्वीकार लिया और यही कारण था कि अपने जीवन के अंतिम शतक में उसने लखनऊ में अकेले रहना ही पसंद किया। आमा की ही तरह उसने भी अपने जीवन के इस सत्य को अपना लिया कि एकाकी जीवन में एक ऐसी शक्ति है कि वह कठिन से कठिन दिनों को काटने का हौसला बढ़ा देती है।

अचानक अप्रैल **1997** में देर रात उसे ख़ून की कै हुई। रात किसी तरह काट उसने सुबह किरण को जब बताया तो किरण का मुझे तड़के फ़ोन आया। सुबकते हुए उसने कहा बस तुम सब किसी तरह यहां आ जाओ। हम सब पागलों की तरह प्लेन, ट्रेन, टैक्सी पकड़कर फ़ौरन रवाना हो गए। जब तक हम लखनऊ पहुंचे उसे उसके पड़ोसियों ने अस्पताल पहुंचाकर भर्ती कर दिया था।उसकी बीमारी का नाम सुनकर हम सब स्तब्ध रह गए। दिद्दी को सिरोसिस की तकलीफ़ निकली और पेट में एक नस के फटने के कारण उसे ख़ून की कै हुई थी।

अगले कुछ दिन किसी भयानक स्वप्न से बीते। न जाने कितनी बार उसे डॉक्टरों ने मौत के मुंह से खींचकर बचा लिया। दिद्दी कुछ ही दिनों में कितनी कमज़ोर हो गई थी देखा न जाता था। सबका कहना था कि जितनी जल्दी ही हमें उसे दिल्ली ले जाना चाहिए लेकिन जितनी बार हमने इसकी कोशिश करी, किसी नई आपत्ति के कारण यात्रा स्थगित करनी पड़ती थी।

अब तक दिद्दी की बीमारी की ख़बर पूरे शहर में फैल गई थी। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल, श्री मोतीलाल वोहरा ने अपने सचिव के हाथ एक संदेश भेजा कि यदि शिवानी जी को दिल्ली ले जाने के लिए हमें सरकारी विमान की ज़रूरत पड़े तो हम उन्हें सूचित करें। इस तरह हम दिद्दी को दिल्ली लेकर आए। यहां पहुंचते ही हम उसे सीधे एम्स ले गए जहां उसका इलाज फ़ौरन

शुरू हो गया। डॉक्टरों के अथक परिश्रम से दिद्दी की हालत में धीरे-धीरे सुधार होने लगा और हम सबने चैन की सांस ली। अस्पताल में कई डॉक्टर और नर्स उसके प्रशंसक थे इसलिए रोज़ कोई न कोई उसकी किताबों पर उसके हस्ताक्षर लेने आता रहता। उनके इलाज से दिद्दी को मानिए पुनर्जीवन मिल गया। अस्पताल से छुट्टी मिलने पर डॉक्टरों ने दिद्दी को चेतावनी दी कि वो अब हमेशा किसी बड़े अस्पताल के पास रहे। कभी भी उसे ख़ून की कमी हो तो हमें उसे लेकर तुरंत अस्पताल पहुंचा देना होगा।

ज़िंदगी में पहली बार दिद्दी ने किसी की बात मानने से इंकार नहीं किया। अगले छह महीने वो चुपचाप दिल्ली में हमारे साथ रहने को राज़ी हो गई। लेकिन एक दिन ऐसा भी आया जब उसे फिर लखनऊ की याद सताने लगी। 'बहुत हो गया,' वह बोली। 'अब मैं बिल्कुल स्वस्थ हूं मुझे अब तुम लोग वापस जाने दो।' अपने डॉक्टरों को भी उसने न जाने कैसे फुसलाकर मना लिया और अपना बोरिया-बिस्तरा बांधकर बेताल की तरह, दिद्दी फिर अपने 'पेड़' पर लटक गई।

अगले सात सालों में दिद्दी को कभी कोई ख़ास तकलीफ नहीं हुई और धीरे-धीरे हम सब भी उस भयावह घटना को भूलने लगे। वह अब बहुत झटक तो गई थी लेकिन उसने अपना लिखना-पढ़ना बदस्तूर जारी रखा। इस बीच वो बॉस्टन भी हो आई, जहां अब हमारा भाई मिकी रहने लगा था और विश्व हिंदी सम्मेलन में भाग लेने लंदन भी गई। इतनी दूर अकेले सफर करने की हिम्मत अभी उसमें थी। हमारी मौसी इंदिरा वॉशिंगटन में रहती थीं जहां उनके बेटा और बहू नामी डॉक्टर थे। उन्होंने प्रसिद्ध जॉन हॉप्किन्स अस्पताल में दिद्दी का पूरा चेकअप भी करवा दिया।

'जानती हो,' उसने लौटने पर मुझे बहुत गर्व से बताया। 'जिस डॉक्टर ने मेरा चेकअप किया उसने अपने विद्यार्थियों को बुलाया जिससे कि वे एक ऐसा मरीज़ देखें जिसका ब्लड प्रेशर इस उम्र तक भी बिना दवाई के संतुलित है और जिसके दांत अभी तक सलामत हैं। मैंने तुमसे कितनी बार कहा है कि अस्सी साल तक मुझे कुछ न होगा।'

और दिद्दी लगभग अस्सी तक पहुंच ही गई थी कि अचानक फिर उसे यमराज ने दबोच लिया। अप्रैल **2001** में वह एक बार फिर बहुत बीमार पड़ी। इस बार उसके पेट में इतना पानी भर चुका था कि सांस लेना मुश्किल हो गया था। डॉक्टरों का कहना था कि उसका जिगर बुरी तरह आहत हो चुका है और उस पानी को शरीर से निकालना बहुत ज़रूरी हो गया था। हर हफ़्ते हम उसे अस्पताल ले जाते जहां डॉक्टर एक लंबी सूई उसके पेट में डाल कर उसके शरीर से दूषित पानी निकालते थे। दृश्य कितना भयानक होता था कि मृणाल व मैं कमरे से बाहर भाग जाते थे लेकिन दिद्दी बिना उफ़ किए, घंटों लेटकर एक किताब के सहारे, इसको सह लेती। उसके आसपास उससे भी दयनीय हालत में कराहते मरीज़ होते थे जिनके बारे में वह हमें बाद में कहानियां सुनाकर हमें हंसाने की कोशिश करती। एक-दो के बारे में तो उसने लेख भी लिख डाले। पर अब उसकी आंखों में हमें एक गहरा विषाद दिखाई देने लगा। दिद्दी को पता था कि बस अब अंत निकट आता जा रहा है।

उस साल अगस्त में, दिद्दी अंतिम बार विदेश गई। बॉस्टन में मिकी के घर पर उसने अपने सारे नाती-पोतों को बुलवाया और मृणाल की नवासी, अरनाज़ का अक्षरारंभ करवा आई। मृणाल की बड़ी बेटी राधिका हमारे घर की सबसे लाड़ली नवासी थी और दिद्दी अपनी परनवासी को देखकर बेहद ख़ुश हो गई।

अक्टूबर में, दिद्दी के जन्मदिन पर मिकी ने उसके लिए एक शानदार पार्टी का आयोजन किया जिस पर हमारे सभी मित्रगण व रिश्तेदार भी आए। इसके फ़ौरन बाद, जब वह दिल्ली लौटी तो हमारे लाख रोकने पर भी चंद दिनों के अंदर फिर लखनऊ चली गई। जब भी मैं फ़ोन पर उससे बात करती उसकी आवाज़ मुझे बहुत थकी सुनाई देती थी लेकिन वो अपने स्वास्थ्य के बारे में कोई चर्चा नहीं करने देती। 'मैं ठीक हूं,' कहकर बात टाल देती।

इस बार दिद्दी को लखनऊ गए महज़ तीन हफ़्ते हुए थे कि एक दिन लड़के किरण का मुझे फ़ोन आया। वह फुसफुसाकर बोल रही थी जैसे कि दिद्दी उसकी आवाज़ सुन न ले, 'अब दिद्दी की हालत देखी नहीं जाती। हमें बहुत

डर लग रहा है। क्या करें समझ में नही आता। कल हम दिद्दी के साथ अस्पताल गए रहे अउर डॉक्टर बोले, 'शिवानी जी, अब या तो आप दिल्ली चली जाइए या हम आपको यहीं भर्ती कर देते हैं।' तो हमने भइया के दफ़्तर से हवाई जहाज़ का टिकट मंगवा दिया है, कल आपके पास पहुंच जाएंगी।'

मैं बुरी तरह सहम गई। दिद्दी कल यहां पहुंच जाएगी लेकिन मुझे उसी दिन कलकत्ते पुस्तक मेले में भाग लेने जाना था। दो ही हफ़्ते पहले, मैंने एक नया काम संभाला था और मुझे लगा कि मैं किस मुंह से अपने प्रकाशक से ये कह सकती हूं कि मैं अब नौकरी नहीं कर पाऊंगी। दूसरे दिन, जब मेरे पति व मृणाल दिद्दी को लेकर घर आ रहे थे तो रास्ते में ट्रैफ़िक जाम के कारण उनकी गाड़ी को घंटों लग गए। दिद्दी से सीधे बैठा भी न जा रहा था, राम-राम कर किसी तरह घर पहुंच पाए।

मैं अगले दिन जब लौटी तो दिद्दी की हालत देखकर दंग रह गई। एक महीने के अंदर लगता था कि वह कंकाल मात्र रह गई है। उसका रंग स्याह पड़ गया था और शरीर में इतना पानी भर चुका था कि उससे खड़ा तक न हुआ जा रहा था।

'मैं तुम्हारे घर मरने के लिए आई हूं,' उसने ऐलान किया। ठीक ऐसा ही कुछ आमा ने कभी उससे भी कहा था जब वे दिद्दी के घर अंतिम बार आई थीं। दिद्दी कहती थी कि आमा ने अपनी मृत्यु के दिन की घोषणा भी कर दी थी। कैसा संयोग था कि आमा 18 मार्च को गई थीं, और दिद्दी गई 23 मार्च को।

अब समझ में आया कि अमेरिका से लौटने के बाद दिद्दी को लखनऊ जाने की इतनी जल्दी क्यों थी। उसे अपने दरबार को सूचना देनी थी कि अब उसके साम्राज्य का अंत आ गया है, और अपने सारे कागज़ात इत्यादि को व्यवस्थित करना था। उसने मुझे दो फ़ाइलें पकड़ा दीं और कहा, 'ये रहे मेरे टैक्स वगैरह के कागज़ और ये हैं मेरी पुस्तकों के कॉन्ट्रैक्ट वगैरह। बाकी सब किरण को मालूम है। फ़लाने बैंक में इस व्यक्ति से मिलकर तुम्हें सब मदद मिल जाएगी। मैं उनको सब समझाकर आई हूं।'

'ये सब मुझे नहीं चाहिए,' मैंने गुस्से से कहा। 'तुम्हें हमने कितनी बार बचा लिया है, अब की बार भी कुछ न होने देंगे। बंद करो ये नाटक।'

'जब अंतिम सत्य को मैंने स्वीकार कर लिया है तो तुम्हें भी करना होगा,' शांत स्वर में मुझसे कहकर दिद्दी अपने कमरे की ओर चल दी।

और सच, इस बार डॉक्टरों ने भी हथियार डाल दिए। जितनी बार उसके पेट से पानी निकाला जाता उतनी बार फिर भर जाता और बार-बार इस अत्याचार को भोगने से उसके सभी अंजर-पंजर ढीले हो गए थे। कभी उसके गुर्दे, कभी फेफड़े जवाब देने लगे। हर सुबह हम आंखें खोलते तो पहला ख़्याल होता, 'क्या आज का दिन दिद्दी काट पाएगी'। अंत में हमने मिकी को बॉस्टन से बुलवा भेजा और वह फ़ौरन आ गया। हम सबको पता था कि दिद्दी के प्राण मिकी में बसे थे। उसने मुझसे एक बार कहा था कि यदि ऐसा हो कि उसका देहांत हो जाए और मिकी न पहुंच पाए, तो हम उसके शरीर को किसी फ़्रीज़र में रख दें। उसका अंतिम संस्कार मिकी ही करेगा और कोई नहीं। अब तक बीनू भी देहरादून से पहुंच गई थी। एक दिन दिद्दी हमसे बोली, 'मुझे पता न था कि तुम सब एक जगह एकत्र होने के लिए रुके थे कि मेरी तबीयत इस मोड़ पर पहुंचे। मुझे पता होता तो मैं बहुत पहले मर जाने को राज़ी हो जाती।'

दिद्दी की पुरानी आदत थी कि जिस बात को वह सहन नहीं कर पाती थी उसको हंसी में उड़ा देती। हमारे उदास चेहरे देखे तो शायद उसे यह लगा कि उसे ही बहादुर होना पड़ेगा। उसकी इस आदत से कभी हमें अक्सर झुंझलाहट भी होती थी लेकिन शायद हम उसकी तरह यह सत्य तब नहीं सीख पाए थे कि मनुष्य का जीवन एक तरह मनुष्य के साथ विधाता का परिहास है। इसे निभाने के लिए अपनी दशा पर हंस सकने की क्षमता केवल कुछ ही लोगों के पास होती है। दिद्दी एक ऐसी ही आत्मा थी।

मुझे याद है एक बार उसकी दोनों आंखों में मोतियाबिंद एक साथ हो गया। लाख मनाने पर भी वह किसी की मदद स्वीकार करने को राज़ी न थी। फिर एक दिन बीनू का मुझे लखनऊ से फोन आया कि अब हमें उसे किसी

तरह दिल्ली ले जाकर ऑपरेशन के लिए राज़ी करना होगा। बड़ी मुश्किल से मैं उसे घसीटकर यहां लाई। अस्पताल की सीढ़ियों पर उसकी मदद के लिए अपना हाथ बढ़ाया तो दिद्दी ने फौरन झटककर अलग कर दिया। मैं अंधी नहीं हूं, वह रुखाई से बोली और इसी के साथ ज़ोर की ठोकर खाकर गिरने ही वाली थी कि मैंने बचा लिया। ऐसे व्यक्ति की मदद करना कितना मुश्किल था आप अनुमान लगा सकते हैं। ऑपरेशन की पहली रात हम दोनों आस पास वार्ड में लेटे थे। दोनों चिंतित थे। उसे अपनी सर्जरी की और मुझे घर पर बच्चों के आगामी इम्तेहान, मेहमान और नौकरों के अभाव की चिंता खाए जा रही थी लेकिन दोनों ख़ामोश थे। अचानक दिद्दी बोली, 'सुनो, मैं तुम्हें पैसे देती हूं तुम भी अपना ऑपरेशन करवा लो। इतनी शांति तुम्हें अपने घर में कहां मिल पाएगी।'

और अब अपने अंतिम समय में दिद्दी को किसी की सहानुभूति या दया नहीं चाहिए थी। वह सिर उठाकर जाना चाहती थी, रो धोकर नहीं। इसलिए जब भी हम में से कोई उसके पास जाता तो वह पुरानी बातें दोहरा कर हमें हंसाने की कोशिश करती। एक दिन डॉक्टर उसके पास आकर बोले, 'अभी सांगमा साहब के 90 साल के पिता यहां से ठीक होकर गए हैं, शिवानी जी, आपको भी हम ऐसे ही घर भेजेंगे, फ़िक्र न कीजिए।'

'डॉक्टर साहब, मैं अस्सी साल की हो गई हूं। मेरे चार होनहार बच्चे हैं। उनके बच्चों और उनके बच्चों के बच्चों का सुख देख चुकी हूं। शान से जीवन बिताया है। अपनी कमाई खाई है और अपनी कमाई से जाऊंगी। मैं मरने से नहीं डरती हूं।'

लेकिन दिद्दी के शरीर ने अब जवाब देना शुरू कर दिया था। डॉक्टरों की सलाह पर उसे अब आई.सी.यू. में पहुंचा दिया गया जहां उसकी देखभाल निरंतर होती थी। एक हफ़्ते तक उसे इस अंधेरे कमरे में क़ैद होना पड़ा जहां चारों ओर मृत्यु से जूझते मरीज़ अपने अंतिम क्षण बिता रहे थे। उस एक हफ़्ते के दौरान उस वार्ड के कम से कम पांच मरीज़ों ने दम तोड़ दिया। दिद्दी ने इसे अकेले झेला क्योंकि हमें उसके पास वहां बैठने की अनुमति न थी। बारी

बारी से दो-दो मिनट के लिए कभी हम वहां जा सकते थे। शरीर से बेशक वह लाचार थी लेकिन दिद्दी का दिमाग अभी भी उतना ही तेज़ था। हमारे उदास चेहरों पर लिखा संदेश उसने पढ़ लिया था पर अंत तक उसका यही प्रयत्न था कि हमें उसके कारण दुख न झेलना पड़े। इसलिए वह कोई न कोई टिप्पणी से हमारा मनोरंजन कर देती। मुझे याद है एक दिन मुझसे उसने कहा, 'अब पता चला कि मेरी तबीयत ठीक क्यों नहीं हो रही है। अगर मेरे पास देखने लायक चेहरे होते तो ठीक होने का मन भी करता। सामने वाले को ज़रा देखो।'

मैंने जब उधर नज़र दौड़ाई तो पाया कि वे बेचारे बेहोश पड़े वेंटीलेटर के सहारे सांस ले रहे थे। 'रातभर उसने मेरा सिर चाटा।' "चलो मन कानपुर के तीरे, कानपुर के तीरे," गाता रहा और वह भी बेसुरी आवाज़ में। अंत में, मुझे अपना ऑक्सीजन मास्क हटाकर कहना पड़ा, "भाई साहब, रास्ते में मुझे लखनऊ छोड़ते आइएगा।"

हम दोनों को इतनी ज़ोर से हंसी आई कि सारा दुख जाता रहा। पास से गुज़रती एक नर्स हमारे चेहरे देखकर दिद्दी से कहने आई, 'शिवानी जी, आज आपके कैप्टो ने हमारी हालत खराब कर दी है।'

दिद्दी ने वहां के एक मरीज़ का नाम केप्टो मुखर्जी पर रख छोड़ा था क्योंकि उसे शराब पीने से सिरोसिस की बीमारी हो गई थी। न जाने उसे पता था कि नहीं कि शीघ्र ऐसा दिन भी आएगा जब वो ख़ुद उस 'केप्टो' की तरह अचेत पड़ी होगी।

मैंने कई लोगों को इस लोक से जाते देखा है लेकिन जैसे दिद्दी ने यहां से विदा ली वह हमेशा याद रहेगा। दिद्दी अब कोमा में चली गई थी उसके सुधरने के कोई आसार नहीं थे। इसलिए हम सबने डॉक्टरों से कहकर उसे वापस कमरे में रख लिया कि कम से कम उसके अंतिम क्षण हमारे साथ बीतें, आई.सी.यू. में नहीं। न जाने उस तक हमारी आवाज़ पहुंचती थी कि नहीं लेकिन बारी-बारी से हम सब भाई-बहनों ने उसका हाथ थामकर उससे विदा ली। उसके कानों में उसके प्रिय पाठ फुसफुसा दिए। उसके शरीर से सारी नलियां

हटवाकर केवल एक ड्रिप छोड़ा ताकि उसे आवश्यक दवाइयां मिलती रहें और बस फिर बैठकर उसे देखते रहे। लखनऊ से किरण भी पहुंच गई थी। दिद्दी का दरबार हाउस फुल था।

धीरे-धीरे, उसकी नब्ज़ कमज़ोर होती गई। मैंने देखा कि उसकी बाईं आंख से एक आंसू निकलकर नीचे ढलक गया। फिर उसकी छाती पर एक धड़कन सी देखी और लगा कि यह उसकी आख़री सांस थी। मार्च **23** के सुबह के पांच बजने ही वाले थे कि दिद्दी चली गई।

मुझे याद आया कि दिद्दी हमेशा कहती थी कि वह ब्रह्म मुहूर्त में शरीर छोड़ेगी। उसका मानना था कि जो इस मुहूर्त में जाते हैं उन्हें मोक्ष मिल जाता है।

हम जब अस्पताल से घर लौट रहे थे तो बाहर बसंत की मीठी बयार चल रही थी। मुझे लगा कि दिद्दी ने हम सबके गालों पर जाते-जाते लाड़ से अपना हाथ फेर दिया है। पास किसी गुरुद्वारे से शबदों की मीठी वाणी क़ानों में आई, कहीं से मंदिर की घंटियों की और कहीं से सुबह की अज़ान की। अपने उपन्यासों के नाटकीय अंतों के लिए प्रसिद्ध शिवानी ने अब अपना अंतिम अध्याय पूरा कर लिया था।

उपसंहारः पूतोंवाली

एक बार फिर छोटे की चिट्ठी पढ़, उन्होंने अख़बार के नीचे दबा दी। पार्वती ने देख ली तो आफ़त कर देगी। क्या लिखा है छोटे ने? हमें कब आने को लिखा है? कैसे कह पाएंगे उससे कि पार्वती, छुटके ने इस बार भी उन्हें बुलाने का क्षीण संकेत तक नहीं दिया है। तीन-चार बार तो वे उसे लिख चुके हैं कि तुम्हारी अम्मा की तबीयत ठीक नहीं है, कई बार काम करते-करते बेहोश होकर गिर पड़ी है। तुम तो जानते हो उसे आंखों से भी कम सूझने लगा है। एक आंख में ग्लूकोमा हो गया है दूसरे का मोतियाबिंद पक गया है। डॉक्टर कहते हैं कि ऑपरेशन जल्दी नहीं किया गया तो दोनों आंखें जा सकती हैं। गांव का हाल तो तुम जानते हो, अस्पताल है पर डॉक्टर नहीं। एक बार तुम किसी अच्छे डॉक्टर को दिखा देते तो तसल्ली हो जाती।

किंतु चतुर बेटा इस बार भी उनके प्रस्ताव को झाड़ गया था। छोटे से पत्र में उसने अपना ही रोना रोया था—इस वर्ष अप्रैल तक मेरी बदली अवश्य हो जाएगी। पांच साल हो गए है यहां, अब नया नियम बड़ी कड़ाई से लागू किया जा रहा है। जो जिस कैडर का है, उसे वहीं लौट जाना होगा। बड़ी मुश्किल में हूं, सुजाता का स्कूल फ़ाइनल है, रौनी को बड़ी मुश्किल से अभी एक अच्छे स्कूल में एडमीशन मिल पाया है। उस पर शीला को अपनी नौकरी छोड़नी पड़ेगी। इन्हें

यही छोड़ गया तो दो-दो इस्टेब्लिशमेंट कैसे कर पाऊंगा...

स्पष्ट था कि अपनी इन परेशानियों के बीच वह अंधी हो रही मां और बाबू जी के लिए कुछ भी नहीं कर पाएगा।

पार्वती ने चाय का प्याला मेज़ पर धरकर कहा था, ''आज छुटके की चिट्ठी ज़रूर आएगी, हमारा मन कहता है।''

''भाड़ में जाए चिट्ठी।'' शिवसागर ने झल्लाकर कहा तो वह सहमकर सिकुड़ गई, सहमने पर वह कितनी छोटी लगती थी, कितनी असहाय, जैसे किसी ने केंचुए को छेड़ दिया हो और वह तत्काल अपनी सतर देह को कुंडली में समेट-सिकुड़कर बिंदु सा बन गया हो। दूसरे ही क्षण, पत्नी के पीले चेहरे को देख, शिवसागर का हृदय, स्वयं अपनी भर्त्सना करने लगा।

छि-छि कहीं मरे को भी ऐसे मारा जाता है? कौन सा सुख दिया है तुमने उसे जीवन भर? इन पैंतालीस वर्षों में कभी अपने हाथों पजामा में नाड़ा भी डाला है तुमने? कभी क़मीज़ का एक टूटा बटन भी टांका है? जिस सर्वस्वत्यागिनी ने पूरा यौवन ही इनी-गिनी सादी साड़ियों और मारकीनी पेटीकोटों में काट दिया और निरंतर मुस्कराती तुम्हारे और तुम्हारे पांच कपूतों के जीवन में आनंदवृष्टि करती रही, उसका क्या प्रतिदान दिया तुम सबने? कभी कोई छल्ला भी गढ़वाकर दे पाए उसे? वह तो पूरे बीस तोला सोना दिया था उसके कृपण पिता ने—उसी बैंक बैलेंस से न जाने कितनी बार शिवसागर ने गृहस्थी की गाड़ी खींची थी। तीन बहुओं को उन्हीं गहनों में से कुछ का चढ़ावा चढ़ा था। शेष दो बेटों ने अपने मन से विवाह किया था। इसी से उन्हें कुछ नहीं दिया गया। कृपण पिता के इस औदार्य का एक कारण भी था, न देते तो उस साधारण चेहरे को देख कौन उसे ले जाता? न पढ़ी-लिखी, न क़द-काठी की ही दुरुस्त, कभी-कभी तो लगता वह बजरबौनी ही है उस पर बेहद डरपोक थी लड़की, मां की मृत्यु ने

उसे और भी भीरू बना दिया था। पिता हेडमास्टर थे, उन्होंने उसे अपने ही स्कूल में पढ़ने भी भेजा था पर न जाने कैसा भूसा भरा था छोकरी के दिमाग़ में, पहली ही कक्षा में तीन साल फ़ेल होती रही। इसी बीच पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था। विमाता की क्रूर आंखें देख, लड़की पहले ही दिन सहमकर और सिकुड़ गई। विमाता जो भी काम सौंपती, उसे ही बिगाड़कर चौपट कर देती। सब्ज़ी में नमक ही नमक, चावल पसाने बैठती तो आधा चावल ही मांड़ के साथ बहा देती। कभी तेल उलट देती, कभी दूध। फिर विमाता बाढ़ में उफ़नती नदी सी, कगार पर खड़े वृक्ष के से पिता के विवेक को भी ढहा गई। दिन-रात की चुग़ली पर जाने वह नित्य ढोल-दमामे सी पीटी जाने लगी। इधर प्रत्येक वर्ष विमाता, दन्न से एक बेटा जन, पति को कृतज्ञता के ऐसे जानलेवा दलदल में धंसा गई कि वे आए दिन, हर मिथ्या अभियोग पर निरीह पुत्री को निर्ममता से कूटने लगे। एक दिन पार्वती की दयालु बुआ ने यह रिश्ता पक्का कर दिया था।

"दान-दहेज तो काफ़ी मांग रहे हैं, पर ऐसा दामाद तुम्हें मिल नहीं सकता।"

ठीक ही कहा था बुआ ने, ऊंचे अगले, विद्वान जामाता को उन्होंने देखा तो मन ही मन सोचने लगे, मातृहीना गाय सी पुत्री के साथ उन्होंने जो भी अन्याय किया था, उसे इसी कन्यादान की पुण्यसलिला में धो-पोंछकर बहा देंगे। समधी की हर मांग वे प्राणपण से पूरी करेंगे। तब शिवसागर मिश्र, काशी विद्यापीठ से अपनी शिक्षा पूर्ण कर नई-नई नौकरी में लगे ही थे। आते ही मां ने बता दिया था कि उसके पिता, उसका रिश्ता फ़ैज़ाबाद के हेमेन्द्र शास्त्री की पुत्री से पक्का कर चुके हैं, सारी रात वह सो नहीं पाया था। कैसी होगी वह? शास्त्री जी को तो वह देख चुका था, उनके तीखे नैन-नक़्श और दूध सा उजला रंग पाया होगा लड़की ने तो निश्चय ही सुंदर होगी और किरातार्जुनीय

की पंक्तियों को साकार कर देगी। वह मन ही मन किरातार्जुनीय की पंक्तियों को दोहराता—'हे मानिनी, नए पल्लवों जैसे हाथों को कंपाती, व्यर्थ परिश्रम मत करो, तुम्हें कल्पलता समझकर पास आई भ्रमरावली कहीं इस तरह डरकर थोड़े ही भाग जाएगी ये भ्रमरयुक्त कमल पत्र हैं या चंचल नयन, ये झुकी बरौनियां हैं या निश्चल भ्रमर वृंद? खिले हुए हास से दर्शनरूपी केसर को प्रकट करता हुआ यह मुख है या विकासमान कमल?' अपनी उस मदकलोदक लोल विहंगमा भावी पत्नी की अनदेखी मोहक छवि का ताना-बाना बुनते ही, वह सिर पर मौर बांध दूल्हा बन गया था, वर रूप में ठीक जैसे शिव ने पार्वती से ध्रुव तारा देखने को कहा था और लज्जासिक्त स्वर में अपना लज्जावनत चेहरा उठा, पार्वती ने बड़ी कठिनाई से कहा था—देख लिया—ऐसा कुछ उसकी पार्वती नहीं कह पाई, वह तो अरसिक गठरी बनी बैठी हो रही। पर जब घर पहुंचने के घंटों बाद नववधू का चेहरा देखने को मिला तो शिवसागर का रसिक चित्त, अपनी सब कलाबाज़ी भूल गया। क़द में शिवसागर के घुटनों तक और भावशून्य ख़च्चर की सी आंखें, शरीर का एक भी अवयव ऐसा नहीं था जिसके सहारे वह अब किरातार्जुनीय के रसिक प्रसंगों को घर तक खींच सकता था। धीरे-धीरे शिवसागर को परिस्थितियों से समझौता करना ही पड़ा। दुर्वासा रूपी पिता से कोई कैफ़ियत मांगने का प्रश्न ही नहीं उठता था, मां को जैसी बहू चाहिए थी, वैसी उसे मिल गई। साथ में बीस तोला सोना, दुधारू गाय, स्वस्थ भैंस और सिर झुकाकर उनके प्रत्येक आदर्श को झेलने वाली धरती सी सहिष्णु उस पुत्रवधू को पाकर अम्मा परितृप्त हो गई। फिर सात ही वर्षों में पांच सुदर्शन पुत्रों को जन्म देकर उसने सास-ससुर के हृदय संपूर्ण रूप से विजित कर लिए। मायके जाने का वह कभी नाम भी नहीं लेती थी, कृशकाया होने पर भी कभी बीमार नहीं पड़ती थी; उस पर पति के कभी सीधे मुंह बात न करने पर

भी निरंतर उसके पीछे-पीछे छाया सी डोलती रहती थी। छोटा तीन साल का था कि ससुर का देहांत हो गया, छठे ही महीने सास भी चली गई। शिवसागर अध्यापक से प्रधानाध्यापक हो गए। ऊपर की मंज़िल में तीन कमरे बनवा लिए। रेडियो भी आ गया, स्टील की दो-दो अलमारियां भी आ गईं। किंतु सास-ससुर की मृत्यु के बाद भी पार्वती के कटोरी से घूंघट की यवनिका नहीं उठी। पांचों बेटे पढ़ने में एक से बढ़कर एक निकले। गांव की बड़ी-बूढ़ियां कहतीं—बड़ी भागवान है री तू। तू सचमुच पूतोंवाली है पार्वती। देखने में ऐसे सजीले कि हर इतवार-मंगल पांचों को एक साथ बिठा नज़र उतारती थी पार्वती। धीरे-धीरे पांचों के भी पंख निकल आए। सब एक-एक कर पढ़ने बाहर चले गए, रह गए दोनों प्राणी।

चालीस वर्षों के सुदीर्घ साहचर्य की धारा क्षीण से क्षीणतर होती, एक ही वेग में बहती जा रही थी। शिवसागर को वार्धक्य ने झटक दिया पर पार्वती का एक-एक बाल अब भी काला धरा था। सुबह चार बजे उठ, वह नहा-धोकर चाय बनाकर रख जाती पति के सिरहाने, फिर दूध का गिलास और कटोरी में पांच बादाम, अख़बार, चश्मा, धूप में धरी कुर्सी पर धर फिर चौके में घुस जाती। ग़ज़ब का रस था उसके हाथों में, खिचड़ी हो या मेवे की गुझिया, "अजी, हमारी बहू जैसा खाना कोई बना नहीं सकता पूरे गांव में।" एक दिन विवाह के कुछ ही महीनों बाद शिवसागर के पिता ने कहा तो उनके स्तुति को शिवसागर ने वहीं पर व्यर्थ कर दिया था, "ठीक ही कहा है आपने हमारे एक मित्र का भी यही कहना था कि जो औरत जितनी बदसूरत हो, वह उतना ही ख़ूबसूरत खाना पकाती है।"

बाप हो-हो कर हंस उठे थे, सोचा, लड़का नई-नई बहू को हंसी-हंसी में छेड़ रहा है। पर पार्वती के घूंघट की यवनिका सहसा और नीचे खिसक आई थी। वह घूंघट की आड़ में रो रही है, यह शिवसागर

ने देख लिया था, रोने से नासिका का रक्तिम अग्रभाग देख वह और चिढ़ गया था। पिता को वह इस बेमेल गठबंधन के लिए अंत तक क्षमा नहीं कर पाया। आश्चर्य था कि विवाह के बाद वह आज तक पत्नी से एक शब्द भी नहीं बोला था, फिर भी उस विलक्षण नारी ने अपनी वेदना का पात्र किसी के सामने रिक्त नहीं किया। भले ही न बोले, उसे पांच दर्शनीय पुत्रों की जननी तो बना दिया था उसके उदार जीवन सहचर ने। कोई विश्वास कर सकता था कि पूरे दस वर्ष बाद, वह उससे पहली बार बोले थे। आज तक शरीर की क्षुधा से ही कातर हो वह उसके पास मूक याचक बनकर आए थे, उस दिन उदर की क्षुधा से व्याकुल होकर लौटे तो देखा पार्वती तीव्र ज्वर में अचेत पड़ी है और नित्य नाश्ते के लिए भरा कटोरदान रिक्त है। शायद खाने की छुट्टी में आए पांचों विकट वीर सब चाट-चूट गए थे।

बाहर लू के गर्म थपेड़े कनपटी पर थप्पड़ मार रहे थे, नहीं तो दुकान से ही कुछ लेकर खा लेते। सहसा झुंझलाकर उन्हें और कुछ नहीं सूझा तो अकड़कर दरवाज़े की चौखट पर खड़े होकर गरजे, 'पार्वती, नाश्ता नहीं रखा आज? मैं सुबह भी भूखा ही चला गया था।'' हड़बड़ाकर वह उठ बैठी, तीव्र ज्वर की अचेतावस्था में भी पति की वह कठोर गर्जना उसे कितनी मधुर लगी थी जैसे किसी अरण्य में कहीं घुंघरू बजे हों। ''मुझसे कह रहे हैं जी?'' उसने आश्चर्य में भयभीत मृगी सी आंखें विस्फारित कर पूछा। वह पति, जिसने आज तक उसकी ओर कभी ठीक से आंख उठाकर भी नहीं देखा था, जिसका स्पर्श उसे अंधकार ही में पुलकित कर अंधकार ही में सदा विलीन हो जाता था, जिसने आज तक उसे कभी नाम लेकर भी नहीं पुकारा, उसी के मुंह से अपना नाम सुनकर वह मत्त मयूरी सी प्रफुल्लित हो उठी। ''और किससे कह रहा हूं। भूख लगी है मुझे।'' उसने झल्लाकर कहा।

आज तक तो उसका रूखे पति की एक ही भूख से परिचय था, आज पहली बार वह उससे, ठीक उसी तरह खाने को कुछ मांग रहा था जैसे कभी उसके क्षुधातुर बेटे मांगते थे, "अम्मा, बड़ी भूख लगी है, दे दे ना कुछ जल्दी।"

वह चादर फेंककर उठी और चौके में घुस गई—ज्वर से उसकी आंखें लाल जवां फूल हो रही थीं। कनपटी पर हथौड़ियां चल रही थीं, पैर कांप रहे थे पर उसने मिनटों में आलू की सब्ज़ी छौंक विशुद्ध घृत में पूड़ियां उतार लीं। फिर यत्न से परस थाली पति के सामने रख आई। देखते ही देखते पूड़ियों का स्तूप शेष कर, पानी गटक बिना कुछ कहे लंबी-लंबी डग भरता शिवसागर चला गया। किंतु पार्वती फिर लेट नहीं पाई, रात के लिए उसने न जाने कितने व्यंजन बना डाले। दिन में अनजाने में हो गई भूल का प्रतिकार करने में उसने कोई कसर नहीं छोड़ी। आंधी के वेग से पांचों बेटे आकर स्वादिष्ट खाने पर टूट पड़े थे, "आज इत्ती चीज़ें क्यों बनी हैं अम्मा?" छुटके ने ही पूछ लिया था। क्या कहती उससे? वह अबोध बालक, जननी के हृदय में उठ रहे आनंद के उत्स की थाह पा सकेगा? विवाह के पूरे दस वर्ष बाद, तुम्हारे पिता मुझसे पहली बार बोले हैं बेटा—ऐसा कुछ कह सकती थी अपने उस लाड़ले से? जननी के अधर पर लगे सलज्ज दिव्य स्मित को देखने की फ़ुर्सत ही कहां थी उसके बेटों को? अखिल, अमित, अजय, अनिल और आदित्य सबका नाम प्रथम वर्णाक्षरी से ही चुना था दूरदर्शी पिता ने, कभी भी किसी प्रतियोगिता में बैठें तो नीचे तक दृष्टि नहीं झुकानी पड़ेगी उन्हें। खा-पीकर पांचों सो गए तो वह उस ज्वर के ताप को निशब्द झेलती, पति का खाना लिए भूखी बैठी रही। बड़ी रात को लौटे थे शिवसागर मिश्र। पार्वती पहले हाथ-मुंह धोने को लोटा भरकर धर आई, फिर नाना व्यंजनों से सजी थाली। थाली धर वह एक क्षण को ठिठकी भी थी, क्या पता जैसे

नाम लेकर पुकारा था वैसे फिर पुकारकर कह दें—पार्वती जा, अपनी थाली भी यहां ले आ।

किंतु उसे किसी ने नहीं पुकारा, छोटा शायद नींद में गोंगिया रहा था। वह तेज़ी से अपने कमरे में चली गई और फिर पूतोंवाली विराट तख़्त में मछली से तैरते, इधर-उधर हाथ-पैर फेंकते, गहरी नींद में अचेत पुत्रों के बीच किसी तरह अपनी जगह बना हाथ-पैर मरोड़ गठरी बनकर सो गई थी। वर्षों से वह बेटों के साथ इसी तख़्त पर सोती थी और शिवसागर अपने कमरे में। बेटे जगे रहते तो नित्य मल्लयुद्ध छिड़ जाता—आज अम्मा के पास हम सोएंगे पर छुटका नित्य जन्मसिद्ध अधिकार से मां से लिपटकर अपनी दुबली सी बांहों से उसके पेट को ऐसे जकड़ लेता जैसे मां की आंतें ही निकाल देगा। अपने इस एकाकीपन को पार्वती ने बिना किसी उपालंभ के स्वीकार कर लिया था। किंतु उस दिन वह ख़ूब रोई थी, किसी ने उसके तृषार्त अधरों तक जलपात्र छुआकर फिर छीन लिया था। रोते-रोते उसकी हिचकियां बंध गईं और आंचल मुंह में ठूस उसने बड़ी चेष्टा से सिसकियां रोकी थीं, कहीं छुटका जग गया और पूछ बैठा कि अम्मा क्यों रो रही है तू?—तो क्या कहेगी उससे? छुटका उसके कुछ न कहने पर भी सब जान जाता है, यह वह जानती थीं, पर कब तक छिपाएगी अपनी अवहेलना को? सयाने होंगे तो सब जान लेंगे—यही हुआ भी था। शैशव से कैशोर्य की देहरी तक पहुंचते-पहुंचते पांचों बेटे जान गए थे कि बाबू जी अम्मा से नहीं बोलते, फिर भी चारों की सहानुभूति-श्रद्धा-स्नेह की धारा पितृमुखी ही बनी रही। सुदर्शन-दीर्घदेही व्यक्तिसंपन्न शिवसागर मिश्र ही थे उनके हीरो। उनके कंठ की एक गर्जना ही उनकी सिट्टी-पिट्टी गुम कर देती। पांचों एक साथ पिता के साथ संध्या-आह्निक को बैठते तो पार्वती अपना सारा दुख भूल-बिसर जाती। कहते हैं कि मां को अपनी संतान समान रूप से प्रिय होती

है। पर ऐसा होता नहीं, संतान में सबसे दुर्बल ही जननी को विशेष प्रिय होता है। यही छुटके के साथ भी हुआ था। एक तो सबसे छोटा पेटपोंछना, उस पर हमेशा बीमार रहता था। पांचों भाइयों में वही सबसे सुंदर था। दुबला-पतला, कमनीय, सलोना, लड़कियों सी लजीली हंसी—आंख-नाक को एक साथ उज्ज्वल धार से भिगोती दूधिया हंसी। जहां चारों भाइयों के कंठ से मसें भीगते ही सातों सुर एक साथ निकलने लगे थे, वहीं पर छुटके का मिष्ट कंठ पूर्ववत बना रह गया था। कोई ज़ोर से उसे डपटता भी तो वह रुआंसा हो जाता। पढ़ने में वह भी भाइयों की भांति तेज़ था। शिवसागर ने भी उन्हें उच्च शिक्षा दिलाने में कोई कसर नहीं रखी। पार्वती ने सचमुच ही अपना नाम सार्थक कर दिया था।

"बड़े भागवान हो बिरादर," शिवसागर के अभिन्न मित्र बद्री ने एक दिन कहा था, "रिटायरी से पहले ही बाघ मार बाघंबर पर बैठ गए हो। एक हमारे हैं कुलदीपक—चार हज़ार तनख़्वाह पा रहे हैं, पर मजाल है जो कभी बाप को चालीस रुपए भी भेज दें, अब सुना है विदेश जा रहे हैं, कहते हैं लौट आएंगे पर हमारी मानो, हाथ से छूटा तीर और विदेश गया बिटवा कभी वापस नहीं आता।"

ठीक ही कहा था बदरी ने। उनके बड़े बेटे—अखिल को विदेश गए इस जेठ में पूरे सात साल हो जाएंगे, कहां आया लौटकर! एक बार आया था, पर वह कहां टिक सकता था गांव में? कभी एक भाई के पास, कभी दूसरे के, कभी अपनी ससुराल, सब बड़े-बड़े शहरों में थे। बाप के छोटे से घर की मिट्टी अब उसे रोक भी कैसे सकती थी? वहां यह है, वहां वह है, झाड़ू लगाने की भी मशीन है—बाबू जी अब देखिए ये इलेक्ट्रिक शेवर है, पर यहां बिजली ही नहीं है। शिवसागर के जी में आया कहें—बेटा, वह दिन भूल गए जब हम तुम पांचों भाइयों को एक साथ नाई की दुकान पर ले जा सवा रुपल्ली

में तुम्हारे बाल छोटे-छोटे ऐसे कटवा लाते थे कि महीने भर तक फिर न बढ़ें।

पिता के लिए एक घड़ी, अम्मा के लिए एक झोला सा स्वेटर, जिसमें उस जैसी तीन पार्वती समा सकती थीं, और विदेशी साबुन-ब्लेड—यह सब उपहार अभी तक उनके टीन के बक्से में ज्यों के त्यों धरे थे—आया भी तो बाल-बच्चों को वहीं छोड़ आया—बहुत किराया है अम्मा, कुछ पैसे जमा कर लूं, फिर आएंगे।

पर कहां आए फिर! उस बड़े पुत्र से उन्हें कभी कोई आशा नहीं बंधी; छोटा था तभी से पूत के पांव उन्होंने पालने में देख लिए थे। पांचों को श्रुतिलेख एक साथ देते थे शिवसागर। वही एक ऐसा था जो पिता की नज़र बचा कनखियों से भाइयों की कॉपी देख चट उतार लेता। जब जस्टिस मिश्रा उसके लिए अपनी पुत्री का रिश्ता लेकर आए तो शिवसागर को लगा, वे सपना देख रहे हैं। इतने बड़े आदमी अपनी पुत्री का रिश्ता उनके बेटे से करेंगे? बेचारे सरल मिश्रा जी समझ नहीं पाए कि वे उनके बेटे की ऊंची नौकरी से रिश्ता पक्का करने आए है, बेटे से नहीं। कहां राजाभोज और कहां गंगू तेली! कहां रखेंगे उस राजकन्या को!

किंतु राजकन्या वहां रही ही कहां थी? पति के साथ उसकी नौकरी के जादुई क़ालीन में उड़कर सदा के लिए विदेश के शून्य अंतरिक्ष में विलीन हो गई थी। दूसरा बेटा अमित इंजीनियर था। उसकी ज़िद के आगे झुक गए थे, शिवसागर। अन्न, जल त्याग, अनशन ही कर बैठा था उनका वह ज़िद्दी सपूत। किसी तरह उसकी मां के गहने बेच, पेट काटकर ही उन्होंने उसे आई.आई.टी. में पढ़ने भेजा और इंजीनियर बनकर निकला तो उनके पहले समधी ही कब उनके हाथ का गस्सा छीन ले गए, वे जान भी नहीं पाए। बड़ी बहन गीता ने ही छोटी

रीता को देवरानी बना ऐसा अनुभूत मंत्र उसके कान में फूंका कि वह विदेशी चली गई। तीसरे हरामख़ोर बेटे अजय के विवाह के बाद तो उन्होंने उसका मुंह ही नहीं देखा न देखेंगे। वह प्रशासकीय सेवा में आया तो कन्याग्रस्त समृद्ध पिताओं ने, उसे प्रस्तावों के चक्रव्यूह में अभिमन्यु ही बना दिया। उदार दहेज के नीलामी हथौड़ों की चोट से शिवसागर लगभग बहरे ही हो गए थे। एक चालीस हज़ार की घोषणा करता तो दूसरा पचास हज़ार, तीसरा पुत्री के साथ सजा-सजाया फ़्लैट और मारुति गाड़ी का तोहफ़ा सजाए चला जाता। तब तक उनके होनहार बेटे ने स्वयं ही उनका काम हल कर दिया। उसे तमिलनाडु कैडर मिला था। दुर्भाग्य से किसी दूरस्थ ज़िले में उसकी नियुक्ति हुई। शासन की बागडोर संभालते ही उसने खटिया पकड़ ली, पीलिया हो गया था। हालत गंभीर होने पर भी उसने पिता को ख़बर नहीं करने दी। कर देता तो शायद बच जाता। अस्पताल में भर्ती हो गया। वहां जिस केरलवासिनी नर्स ने उसे रोग-मुक्त किया, उसी से विवाह कर लिया उसने। एक दिन बाद चिंतातुर पिता का जवाबी तार आया। उन्हें उत्तर मिला, मुझे और अपनी बहू को आशीर्वाद दीजिए।

"तुम हमारे लिए मर चुके हो। हम न दोनों रहें तो तुम्हें कंधा देने के अधिकार से हम वंचित करते हैं। अपना काला मुंह हमें मत दिखाना"—क्रोध से फड़कती शिखा को फहराते पंडित शिवसागर मिश्र ने स्वयं उस चिट्ठी को लेटर बॉक्स में डाल वहीं पर पच्च से ऐसे थूका, जैसे निर्लज्ज पुत्र के मुंह पर थूक रहे हों। देखा जाए तो पहली बार वही आघात उन्हें पार्वती के निकट ले आया था। वह आघात अकेले झेलने की शक्ति उनमें अब नहीं थी।

बेटे के तार को जब वे फाड़ें रहे थे तभी कभी कुछ न पूछने वाली पत्नी चुपचाप आकर उनके पीछे खड़ी हो गई थी।

"क्या लिखा है तार में, आप इतने परेशान क्यों हैं? सब कुशल तो है ना? कुछ बुरी ख़बर तो नहीं है?" अपनी बड़ी-बड़ी आंखों की चिंतातुर दृष्टि उसने पति के तमतमाए चेहरे पर निबद्ध कर पूछा।

"हां, बुरी ख़बर है, मर गया अमित!"

"हे राम, हे राम!" कहती वह नित्य की भांति सिकुड़ती धरा पर ढेर हो गई थी। ठीक जैसे कोई नमक छिड़की पहाड़ी जोंक गोल-गोल घूम सहसा निश्चेष्ट हो जाती है। "पार्वती! पार्वती!" कह वे उसकी पलट गई पुतलियां और रक्तहीन चेहरा देख भयभीत हो गए। देही एकदम ठंडी पड़ी थी। कहीं दिल का दौरा तो नहीं पड़ गया उसे, इस उम्र में वह भी उन्हें छोड़ गई तो उनका क्या होगा। जिसे जीवन भर वे खाज से लगी कुतिया की भांति प्रताड़ित करते रहे, उसकी इस अनहोनी मृत्यु की संभावना से वे एक क्षण को स्वयं अपनी चेतना खो बैठे, यद्यपि उस संभावित वियोग के बीच भी स्वयं उनकी स्वार्थपरता ही प्रखर हो रही थी। इसे कुछ हो गया तो दो जून की रोटी भी नसीब नहीं होगी उन्हें। पांच बेटों में से एक भी तो उनके बुढ़ापे का सहारा नहीं बन सकता था, एक छुटके से ही थोड़ी-बहुत आशा थी। पत्नी की मुट्ठी-भर की देह को शिवसागर ने उठाकर बिस्तर पर धरा, हाथ-पैरों को रगड़-फूंक गर्म करने की चेष्टा की पर वह निश्चेष्ट पड़ी रही। भागकर वे अपने एकमात्र हितैषी-मित्र बदरी को बुला लाए। वही कभी अपने इस पाषाण हृदय मित्र को गऊ सी निरीह पत्नी के प्रति दुर्व्यवहार के लिए क्षमा नहीं कर पाए थे। आश्चर्य था कि सर्वथा विपरीत स्वभाव होने पर भी दोनों आज तक अपने स्कूल की मैत्री को पूर्ववत बनाए चले आ रहे थे। संस्कारशील शिवसागर के मुंह से कभी किसी ने आज तक क्रोध आने पर भी गाली नहीं सुनी थी। बद्रीप्रसाद के हर वाक्य का आरंभ और अंत साले से होता था। न उन पर परिवार का बोझ था, न पत्नी का अनुशासन, विधुर बद्री

घोर नास्तिक थे, मांस, अंडा, मछली से उन्हें कोई परहेज नहीं था। मित्र के साथ प्रति मंगल हनुमान मंदिर अवश्य जाते पर बाहर ही खड़े रहते—'निगरगंड मोटा, नफ़ा न टोटा' का मूल मंत्र जपते वे जीवन के सत्तर नीरस वर्ष काट चुके थे। न उन्हें भविष्य की चिंता थी, न वर्तमान की। एक बार बेटे से रूठे तो उससे रिश्ता ही तोड़ लिया। सामान्य सी पेंशन में उनकी गुज़र हो ही जाती थी। फिर शिबू जैसा उदार मित्र भी तो था। उस दिन भी वे उस मित्र की विपत्ति की घड़ी में भागते चले आए।

"क्या हुआ? सच-सच बताओ साले।" सब कुछ सच-सच बता दिया था शिवसागर ने और अबोध बालक से सिसकते, पत्नी के हिम-शीतल पैरों पर गिर पड़े थे—"मुझे माफ़ कर दे पार्वती, मैंने तुझे बहुत सताया है, क़साई हूं मैं!" सदा अकड़ से सीना कबूतर की तरह ताने चलने वाले अपने अहंकारी मित्र को उस दीन-हीन मुद्रा में देख बद्री पसीज गए, "हो तो साले पूरे क़साई पर जो होना था सो हो गया। लाओ, पकड़ो ज़रा, खटिया से देही तो उतारनी ही होगी—गंगाजल है घर में, और कुश?" दोनों मित्रों ने फूल सी देह को नीचे धरा। फिर शिवसागर ने जो किया, उसके लिए बद्री प्रस्तुत नहीं थे। पागलों की तरह वे झुके और पत्नी की निष्प्राण देह को चूमने लगे। उसके रक्तहीन अधर, कपोल, केश, ललाट, पैर।

"पागल हो क्या! उनकी आत्मा को कष्ट होगा," बद्री ने मित्र का कंधा पकड़कर झकझोरा, "शांत-स्थिर होकर बैठे रहो। मैं मोहल्ले में ख़बर कर आऊं। मिट्टी समय से ही उठानी होगी—बाहर भूरी बद्री घिरी है, कहीं पानी न बरसे।"

सहसा बोलते-बोलते बद्री, भय से निष्प्राण देह की ओर उंगली उठाकर बोला, "अरे देख-देख, भाभी की सांस चलने लगी। हाय राम, कैसा पाप होने जा रहा था हमसे! यही तो मैं सोच रहा था—ऐसी

सती-लक्ष्मी पूस की अमावस में इस घर को छोड़ कैसे जा सकती थी। देख शिबू, अब किसी से कुछ कहियो मत, भाभी से भी नहीं। समझा? वह हमें कभी माफ़ नहीं करेगी—मेरे पास पिताजी का दिया मालती वसंत धरा है। मैं ले आऊं, दूध में पिला देंगे। असली चीज़ है, बप्पा कहते थे, 'बद्री, घाट में पड़े मुर्दे के मुंह में भी डाल देगा तो वह घर लौट आएगा।' फिर सारी रात दोनों मित्र अचेत पार्वती के सिरहाने बैठे रहे थे, पलक भी नहीं झपकाई दोनों ने। धीरे-धीरे सांस का वेग प्रखर होता चला गया।

"जा साले, अब बढ़िया चाय बना ला जल्दी—लगता है पसलियों में ठंड घुस गई है। तू फ़िकर मत कर, अब कुछ नहीं होगा भाभी को।"

शिवसागर ने क्या आज तक कभी चाय का पानी भी खौलाया था?

अनाड़ी-अनभ्यस्त हाथों से पानी खौलाया, फिर बड़ी देर तक चाय का डिब्बा खोजता रहा, न जाने किस डिब्बे में रखती थी पार्वती। चाय बनी और गिलासों में डालने लगा तो उंगलियां जल गईं, असहाय अश्रुजल से उसकी आंखें डबडबा आईं, कितना अकर्मण्य बना दिया था उसे पार्वती ने! आज वह चली गई होती तो जीवन कैसा दुर्वह बन उठता!

पार्वती ने अभी भी आंखें नहीं खोली थीं, पर सांस की ऊर्ध्व गति, स्वाभाविक छंद में उतर आई थी।

"अब सरऊ, हम तुम्हारी पोल खोलकर रख देंगे, आने दो भाभी को होश में। तुमने उनकी ज़मीन पर धरी देही के साथ क्या किया, कह देंगे हम।" चाय के घूंट सशब्द सुड़कते बद्री ने बड़ी दुष्टता से एक आंख भींच दी।

"क्या किया था मैंने?" कुछ न समझ पाने का उपक्रम कर रहे

अभिनय-विधुर पैंसठ वर्ष के पंडित शिवसागर मिश्र के दोनों पिचके कपोल सहसा किसी प्रणयिनी किशोरी के कपोलों से आरक्त हो उठे।

"अब बनो मत साले, पूछते हैं क्या किया मैंने! अजी हम न होते तो पूतोंवाली को छठा बेटा दे दिया होता तुमने।"

जिस अमावस की मनहूस रात्रि का प्रारंभ दोनों मित्रों के लिए करुणाविहीन यम के आगमन से भयानक बन उठा था, उसका अंत हुआ उतना ही मधुर, उतना ही सुखद।

दोनों मित्रों के बीच फिर न जाने कितनी बार चाय का दौर चला, उन सुखद क्षणों में संस्कारशील शिवसागर मिश्र बदरी की निम्न स्तरीय परिहास रसिकता को भी चटकारे ले-लेकर चाय के साथ घुटकते रहे।

"अब मैं चलूं, चिंता मत कर तेरी घरैतिन लौट आई है घाट से। पर सुन, अब इस बुढ़ापे में जवानी में किए एक-एक अपराध की भाभी से क्षमा मांग लेना। फूलों की सेज पर सुलाना अब बुढ़िया को।"

वही किया था शिवसागर मिश्र ने और आज तक किए चले आ रहे थे। यौवन में किए गए एक-एक अक्षम्य अपराध का पूरा प्रायश्चित कर रहे थे वे। पार्वती अभी इतनी दुर्बल थी कि स्वयं उठ नहीं पाती थी, उसे सहारा देकर उठाते, हाथ-मुंह धुलाते, नहा-धोकर चाय बनाते, फिर दलिया बना, अपने हाथों से उसे खिलाते और हर कौर के साथ क्षमा मांगते चले जाते।

"मुझे माफ़ कर दिया न पार्वती? तूने नहीं किया तो भगवान भी मुझे कभी माफ़ नहीं करेगा।"

बिस्तर पर पड़ी पार्वती एकटक अपनी तरल दृष्टि से पति को देखती रहती। क्या यह सचमुच उसका पति कर रहा था या वह कोई सपना देख रही थी? यदि यह सपना ही है प्रभो, तो इसे भंग मत करना, मैं बिस्तर पर लुंज-पुंज पड़ी यही सपना अंत तक देखती रहूं। वह पति, जिसने कभी उसके यौवन को स्वयं अपने हाथों चौदह वर्ष

का वनवास दे दिया था, अब उसे पान के पत्ते सा फेर रहा था, "मैं उस दिन गुस्से में बौरा गया था पार्वती, मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि वह हमारे कुल को ऐसे डुबोकर रख देगा—जानती हो, वह लड़की ईसाइन है। उसके एक मित्र ने लिखा है मुझे।"

"क्यों जी छोटा करते हैं आप?" अपने मधुर शांत स्वर को मंजीरे सी खनकाती वह पति को दिलासा देने लगी थी, "भगवान की यही इच्छा रही होगी। फिर पहले जनम में कुछ बुरे करम किए होंगे हमने।"

शिवसागर आश्चर्य से पत्नी के पीले चेहरे को देखते रहे थे। न उत्तेजना, न क्रोध। शांत झील सी आंखों में पुत्र की अबाध्यता के रेले ने, सामान्य सी हलचल भी नहीं की थी। कहां से आ गई उसमें ऐसी दार्शनिकता?

पार्वती का दुख इस समय एक ही था, उस आकस्मिक झटके ने उसके हाथ-पैर काटकर बिस्तर पर डाल दिया था, वह पति के लिए कुछ भी नहीं कर पा रही थी। छि-छि, लेटे-लेटे पलंग ही तो तोड़ रही थी, बस। और वे जिन्होंने कभी आटे की लोई भी हाथों में नहीं ली थी, उन्हें चूल्हे-चक्की से जूझना पड़ रहा था। बार-बार वह आंखें बंद कर ईश्वर से एक ही याचना करती—मैं इन्हीं की गोद में आंखें मूंदूं और मेरे दो नादान बेटे और कुछ न कर बैठें। पर दूसरे ही महीने चौथा बेटा भी हाथ से निकल गया। उससे तो यही उम्मीद भी थी। वह डॉक्टर था और भोली पार्वती भी इतना जानती थी कि डॉक्टर अमूमन डॉक्टरनी ही लाता है। पर क्या उनके समाज की डॉक्टरनी नहीं जुटती उसे? बाप से एक बार तो मुंह खोलकर कहा होता। उस पर सुना, बहू का बाप, भतीजे की हत्या के अपराध में किसी जेल में आजन्म क़ैद की सज़ा भुगत रहा था। यह अच्छा हुआ कि विवाह होते ही डॉक्टरों का वह जोड़ा स्वयं विदेश की ओर उड़ गया। अब केवल छुटका बचा था। इस बार शिवसागर मिश्र मन ही मन दृढ़ निश्चय

कर चुके थे कि इस पांचवें बेटे को अपने ही द्वार के खूंटे से बांधकर रख देंगे, भागकर देख तो ले—वह तब प्रशासकीय सेवा में आकर मसूरी में ट्रेनिंग पा रहा था।

बद्री कह रहा था, "वहां भी समझ लो, कुआंरों की हाट लगी रहती है—ठीक जैसे सोनपुर का पशु मेला। वहीं या तो लड़की स्वयं फांस लेती है या लड़की का बाप। फिर छुटका तुम्हारा बहुत सीधा है। बिरादर, ऐसे डरपोक अनाड़ी तैराक ही जल्द डूबते हैं। मेरा कहा मानो तो कोई अच्छे घर की पढ़ी-लिखी लड़की देख बात पक्की कर लो। शादी ट्रेनिंग के बाद होती रहेगी।"

यही तो किया था उन्होंने, फिर भी ठगे गए। बहुत ठोक-बजाकर लिए गए मटके में भी कभी घर लाने पर छेद निकल आता है। वही हुआ। एक तो छुटका बचपन से ही उनकी छाया से भी थर्राता था। पढ़ने में अत्यंत मेधावी था फिर भी, गणित में 100 में से 99 अंक पाने पर भी बाबू जी का मत्था सिकुड़ जाता, "क्यों बे, एक नंबर किसमें कटा?" वे गरजकर पूछते तो वह कुछ बोल नहीं पाता। इसी से, जब उन्होंने कड़ककर कहा, "हमने तुम्हारा रिश्ता पक्का कर दिया है, इसी बैसाख में लगन निकली है।" वह बेचारा एक शब्द भी नहीं कह पाया। यह भी नहीं पूछ सका कि कौन है वह? लड़की—पढ़ी-लिखी है या अम्मा की तरह बुढ़ापे में भी घूंघट निकाले रहेगी। किंतु शिवसागर मिश्र ने अपने सजीले बेटे के लिए टक्कर की ही लड़की ढूंढ़ी थी। गोरी, उजली, दुबली-पतली, तीखे नैन-नक़्श और कॉन्वेंट शिक्षिता। बद्री के साढ़ू ही बिचौलिया बने थे। कन्या के पिता ने पुलिस विभाग के सर्वोच्च पद से अवकाश ग्रहण किया था। इसी से रस्सी जलने पर भी रस्सी ऐंठ नहीं गई थी। चाल में अभी भी अकड़ थी। आवाज़ में कड़क, बदरी के ही कहने पर शिवसागर मिश्र ने उसी शहर में कुछ दिनों के लिए एक कोठी किराए पर ले ली थी और वही से

विवाह निबटा गांव चले गए थे, पुलिस महकमे के अपने रौबीले समधी को भला वे अपने गांव के उस छोटे से मकान में बरात लाने को कैसे कह सकते हैं? विवाह का निमंत्रण, उन दो निष्कासित बेटों को नहीं भेजा गया, जिन्होंने अंतरजातीय विवाह किए थे। उन दो बेटों को, जिन्होंने अपने ही समाज में विवाह किया था, बड़ी आशा से ही निमंत्रण भेजा गया था, पर वे भी नहीं आए। एक ने अपनी बीमारी की बात लिख असमर्थता व्यक्त की थी, दूसरे ने पत्नी की। "हम जानते हैं कैसी बीमारी है पार्वती!" लंबी सांस खींचकर शिवसागर मिश्र ने कहा था, "आ जाते तो ज़रा हमारी भी नाक ऊंची हो जाती, उस ऐंठू समधी के सामने कि देखो, हम भी एकदम गए-बीते नहीं हैं।"

छुटके की बहू भी एक ही बार गांव आई, फिर आज तक उसका द्विरागमन कभी नहीं हुआ। कितने वर्ष बीत गए थे फिर। अब तो छुटके के बालों में भी सफ़ेदी आ गई थी। तस्वीर भेजी थी उसने, दुबली-पतली बहू फूलकर ढोल हो रही थी। उस पर भी छुटका बराबर यही लिखता था कि रीना बीमार है। हर तीसरे साल गुलाब की क़लम की भांति उसकी देही काटी-छांटी जाती। एक न एक ऑपरेशन होता रहता। कभी रीना की आमाशय की पथरी निकाली जा रही है, कभी एपेंडिक्स और कभी बच्चेदानी।

शिवसागर मिश्र एक ही बार पुत्र की गृहस्थी देखने गए थे, जब वह नया-नया कलक्टर बना था।

"अम्मा को नहीं लाए, बाबू जी?" बहू ने पूछा था, बोलने की तो एक ऐसी मीठी थी कि शिवसागर को भय होता, कहीं उससे अधिक बतियाए तो उनकी ब्लड शुगर न बढ़ जाए।

"नहीं।"

"क्यों, तबीयत ठीक नहीं है क्या?"

"तबीयत-उबीयत सब ठीक है, पर हमने सोचा, बुढ़िया अभी भी

घूंघट निकालती है, तुम्हारी कलक्टरी में बेमेल लगेगी।"

मर्मस्थल पर चोट करना ख़ूब जानते थे मिसिर। यह भी कह सकते थे कि बेटा, तुमने तो अम्मा को साथ लाने को लिखा नहीं था, यही लिखा था कि बाबू जी आप एक बार आकर हमारी गृहस्थी देख जाइए। जिसने दस महीने पेट में रखा उसका ध्यान नहीं आया पुत्रवर? पर यह सब नहीं कहा उन्होंने, पर जो गोली उन्होंने दाग़ी थी वह ठीक बेटे की छाती में जाकर धंस गई थी। तड़पकर रह गया था वह! ठीक ही तो कह रहे थे बाबू जी। वह सर्वस्व त्यागिनी जननी, जिसके पेट में हाथ डाल वह उसके पास सोने के लिए चारों भाइयों को सींग मार-मारकर दूर खदेड़ देता था, उसे वह सचमुच ही भूल गया था। अब वह संसार में दो ही व्यक्तियों से डरता था। दोर्दंड पिता से और उग्रतेजी अग्निगर्भा पत्नी से। कहीं अम्मा से कुछ कह बैठती रीना तो बाबू जी अनर्थ कर सकते थे। छुटके का छोटा बेटा आनंद तब अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ रहा था। बड़ी बेटी भी कॉन्वेंट में पढ़ रही थी। शिवसागर मिश्र को पोते की वह शिक्षा एकदम नापसंद थी। जब देखो तब हाथ में कॉमिक्स और मुंह में च्युंगम।

"अरे, यह क्या गाय-भैंस की सी जुगाली करता रहता है तू! क्या खाता है दिनभर?" कॉमिक्स के आनंदोदधि में आकंठ डूबे पौत्र की उस चुप्पी को अबाध्यता समझ, शिवसागर मिश्र बौखला गए थे। बहू-बेटे के साथ वे नाश्ता कर रहे थे। छुटका भी कई बार बेटे को नाश्ता करने बुला चुका था। वह उठ ही नहीं रहा था। "अरे सुना नहीं क्या? मैं पूछता हूं, क्या चबा रहा है तू?" शिवसागर की 'भृकुटि विलास सृष्टि लय होई' वाली मुखमुद्रा पहचानते ही छुटका कांप गया, कहीं हाथ न उठा बैठें बाबू जी।

वही किया उन्होंने, उठे और चट से एक चांटा धर दिया अबाध्य पौत्र के गाल पर।

बेचारे नहीं जानते थे कि जिसे वे पौत्र की अबाध्यता समझ रहे थे वह तो इस युगीन पीढ़ी की विशेषता थी। यदि हाथ में कॉमिक्स हो तो एक प्रश्न को चार बार पूछिए। तब कहीं अन्यमनस्क उत्तर मिलेगा, "हूं!"

जिस छुटके ने अपने कैशोर्य तक, बाप के ऐसे अनेक झापड़ खाकर भी कभी मुख खोलना नहीं सीखा था, उसी का बेटा नन्हे सपोले सा तनकर खड़ा हो गया और डस ही दिया पितामह को, "हाउ डेयर यू! क्यों मारा मुझे, कौन होते हैं आप!"

एकाएक शिवसागर मिश्र का वर्षों से भूला-बिसरा उग्र अनुशासन पूरी शक्ति से उनके चौड़े पंजे में उतर आया। वही शिवसागर, जो स्कूल के छंटे से छंटे शातिर छात्र को अपने एक ही झापड़ में सीधा कर देते थे, उठे और बोले, "अभी बताता हूं, कौन होता हूं मैं!"

फिर चटाचट-पटापट थप्पड़ों की शिलावृष्टि से भयभीत हो बहू ने पिटते पुत्र को खींचकर छाती से लगा लिया था। "जानवर, जंगली हैं आप", वह ससुर से कहती हांफने लगी, "हमने आज तक इसे कभी फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ!" छुटका चुपचाप बैठा रहा, न उसे पिता का पक्ष लेने का साहस था, न पत्नी का।

"वह तो देख ही रहा हूं," शिवसागर ने नाश्ते की अनछुई प्लेट दूर खिसका दी, "तुम दोनों के दुलार ने ही इसकी यह हालत कर दी है। सातवीं में पढ़ रहा है और कल गणित का एक सामान्य सा प्रश्न भी हल नहीं कर पाया। न अंग्रेज़ी ही ढंग की लिख पाता है, न हिंदी। विज्ञान में एकदम गोल। कहता है डैडी ने कैलकुलेटर मंगा दिया है, हम कैलकुलेटर से सवाल करते हैं। एक दिन जब समझ में आएगा इसके दिमाग़ी कलपुर्ज़ों में तुम यह सब दिलवाकर जंग लगा रहे हो, तो बहुत देर हो चुकी होगी। लानत है तुम पर, जो इसे अब तक सामान्य शिष्टाचार भी नहीं सिखा पाए—न बड़ों का आदर, न

छोटों से प्यार, न नौकरों से ढंग से बातें करना। कल तुम्हारा अर्दली स्कूल पहुंचाने देर से आया तो पूछो क्या कहा इसने?"

"क्या कहा मैंने?" बेटे का बेटा, क्रुद्ध जंगली बिल्ले सा कूबड़ निकाल ऐसे आगे बढ़ा जैसे उनका मुंह नोच लेगा।

"जो तुमने कहा, वह मैं अपनी ज़ुबान पर भी नहीं ला सकता... मैं इसे पढ़ाने लगा," वे पहली बार खिसियाए नतमस्तक बैठे बेटे की ओर बढ़े, "तो तेरी बहुरिया को बड़ी नाक लगी—मैंने वह सब सुन लिया छुटके, जो यह बरामदे में तुमसे कह रही थी। बेचारी शायद देख नहीं पाई कि मैं भीतर ही बैठा अख़बार पढ़ रहा हूं।"

छुटके का चेहरा झुकता-झुकता एकदम ही नीचे आ गया था। उसका बस चलता तो वह मेज़ के नीचे दुबक जाता। "वह कह रही थी," शिवसागर कहने लगे, "तुम्हारे बाबू जी तो आनंद के पीछे हाथ धोकर पड़ गए हैं, स्कूल से लौटकर एक मिनट सुस्ता भी नहीं पाता बेचारा। जब देखो तब उसकी गर्दन दबोचे बैठे हैं। अब घर जाने को कहें तो तुम उन्हें मत रोकना कुछ महीने और रह गए तो आनंद का भेजा ही चाट उसे कूढ़मगज बना देंगे... ठीक कहती हो बहू कहीं वैसा ही न बना दूं जैसे अपने पांच बेटों को बना दिया है, दो आई.ए.एस. एक डॉक्टर, एक इंजीनियर और एक वैज्ञानिक। आज जिसके पढ़ाए विद्यार्थियों में से कोई कमिश्नर है, कोई पुलिस का वरिष्ठ अधिकारी वह तुम्हारे बेटे को कूढ़मगज ही तो बना देगा। बहू, इत्ता हम समझ गए हैं, तुम्हारी पंगत में अब हम बूढ़ों की पत्तल नहीं बिछ सकती। भलाई इसी में है कि हम सब बुड्ढे-बुढ़ियों को, जिन्हें तुम अपनी भाषा में 'ओल्डीज़' कहते हो, एक कतार में खड़ा कर धांय-धांय गोली चला ढेर कर दो। न रहेगा बांस न बजेगी बेसुर बांसुरी।"

और फिर उसी क्षण शिवसागर मिसिर बिना खाए-पिए अपना बुकचा लटकाए पुत्र के गृह से निकल गए थे।

एक-दो बार अपराधी पुत्र ने प्रायश्चित करने की चेष्टा भी की। एक बार दो हज़ार का ड्राफ़्ट भेजा, दूसरी बार पूरे पांच हज़ार का, पर दोनों ही बार ड्राफ़्ट उसी के पते पर लौट आए। अब तो पांचों पुत्रों के मोह-बंधन से मुक्त हो गए थे शिवसागर। उन दोनों की पेंशन, उन दो प्राणियों के लिए बहुत थी, उस पर चाय-पानी का ऊपरी ख़र्चा वे दो-तीन ट्यूशनों से निकाल लेते थे। संध्या होते ही दोनों मित्र घूमने निकल जाते, लौटते तो पार्वती चाय खौलाकर तैयार रखती। क्या चाय बनाती थी पार्वती! गुड़ का सौंधा स्वाद, तुलसी की पत्ती, सोंठ, इलायची, न जाने कौन-कौन से मसाले कूटकर धरे रहती शीशी में, गाढ़ी चाय और गाढ़ा दूध। एक ही घूंट, शरीर के समस्त वात-पित्त को हवा में उड़ाकर रख देती थी। कभी-कभी मित्र को शिवसागर जबरन खाने के लिए भी रोक लेते, रात अधिक हो जाती तो बद्री छत के कमरे में ही खटिया डालकर सो जाते। छत का वह कमरा उस पैतृक गृह का सबसे पुराना कमरा था। चारों ओर ईंटों की जीर्ण दीवारों को अधोपतन से रोकने के लिए दोनों मित्रों ने किसी प्रकार से चार मोटे बांस लगा दिए थे। शिवसागर की गृहस्थी की गाड़ी ठीक ही चल रही थी। पर इधर पार्वती का क्रमशः रक्तशून्य हो रहा चेहरा, उन्हें सहमाने लगा था। क्या हो गया था उसे? क्या पुत्रों की उदासीनता ही उसे घुला रही थी या कोई घातक रोग लग गया था उसे? आजकल तो जिसे सुनो, उसे ही कैंसर घसीटता मृत्यु की खोह में लिए चला जा रहा था। कहीं कैंसर ही तो नहीं हो गया उसे? अपनी ओर से तो उन्होंने उसकी देखरेख में कहीं भी त्रुटि नहीं रहने दी थी। रात-रात भर उसका हाथ अपने हाथों में लिए बैठे रहते थे। पर बेचारा शुष्क शिवसागर, वह यही नहीं जानता था कि बहुत दिनों के भूखे को यदि छप्पन प्रकार के व्यंजन एक साथ खिला दिए जाएं तो पेट भर वह खुराक उसके लिए कुपथ्य ही बन उठती है। यौवन भर तो वे उसे

भूखी ही छोड़ गए थे। अब इस वयस में वे लाख व्यंजन परस उसके सम्मुख धर दें—वह क्या ख़ाक खा पाएगी? वह मुंह खोलकर कुछ बताती नहीं थी पर वे देखते, प्रायः ही वह सामान्य से कार्य से भी थककर, पति की दृष्टि बचा, बीच-बीच में चुपचाप खटिया पर पसर जाती। यही सब देख, आत्मसम्मान को ताक में धर पूरे दस वर्ष बाद छोटे पुत्र को पत्र लिखा था। वह अब सचिव का पदभार ग्रहण कर दिल्ली पहुंच गया था। सुना था, दिल्ली ही अब अफ़सरों का मदीना थी, मंत्रियों का महातीर्थ। छुटका चिकित्सा विभाग का सचिव था। संपूर्ण भारत के धन्वंतरियों की जन्म-कुंडलियां उसकी मुट्ठी में बंद रहती होंगी। दिन-दिन घुलती मां की देह को शायद पुत्र के पद की महत्ता बचा ले। धीरे-धीरे उन्होंने पार्वती को भी उस चिकित्सा यात्रा के लिए पटा लिया था। वह बेचारी पांचों पुत्रों की देहरी पर ठोकर खा चुकी थी कि अब सहज में पतिगृह की देहरी की लक्ष्मण रेखा लांघने में भी डरती थी। पूरा महीना बीत गया। छुटके का उत्तर नहीं आया। इस बीच पार्वती की हालत और गिर गई, फिर शिवसागर मिश्र ने स्वयं निर्णय लिया, वे उसके पत्र की व्यर्थ प्रतीक्षा नहीं करेंगे, स्वयं पार्वती को लेकर पहुंच जाएंगे।

"बद्री", उन्होंने अपने मित्र से कहा, "सोच रहे हैं, तुम्हारी भाभी को लेकर दिल्ली हो ही आएं। छुटका कई बार बुला चुका है।" बद्री ने बड़ी ही व्यंग्यपूर्ण दृष्टि से मित्र को देखा। अपने प्रश्न को तिर्यक स्मित से और भी घातक बनाकर पूछा, "अच्छा? बुलाया है छुटके ने? हो आओ बिरादर, पर जल्दी लौट आना।" छुटके को मां के हाथ के बने गोंद-मेवे के लड्डू बेहद पसंद थे। उस हालत में भी आधी रात तक जगकर पार्वती ने लड्डू बनाए, मठरी, बेसन का लड्डा और खोरमा पूरी कनस्तरी ही भर-भरकर धर ली। जब अपनी गठरी, कनस्तरी और रंग उड़े फूलदार बक्से के साथ, पुत्र की कोठी पर पहुंचे तो देखा,

स्टूल पर बैठा गोरखा दरबान बीड़ी पी रहा है। उसने पहले उस देहाती जोड़े को द्वार पर ही रोक दिया। पर फिर परिचय पाते ही वह उन्हें भीतर ले गया, "आप डराइंग रूम में बैठिए साब, मेमसाब कहीं गया है, अभी आता ही होगा।"

दोनों अपने ही बेटे के गृह में सहमे अनजान अतिथि से घंटों बैठे रहे। कैसी सुंदर सजावट थी कमरे की, मूर्तियां, मख़मली सोफ़ा, जहाज़ सी कुर्सियां। सहसा पुत्र के वैभव के बीच, पार्वती को अपना अतीत याद हो आया। कितना संकुचित था वह अतीत और कितना उदार था यह वर्तमान! इन बच्चों के वैभव की प्रतीक थी तब घर की एकमात्र आरामकुर्सी जिसे उनके बाबू जी, एक बार शहर जाने पर नीलाम से ख़रीदकर लाए थे। पार्वती ने ही उस ढीली पड़ रही बेंत की बुनावट को बचाने के लिए पुराने लिहाफ़ की रूई भर एक गुदगुदी गद्दी बना दी थी। उसमें अर्धशायित पति की रौबदार मुद्रा पर वह बाहर-भीतर जाते, बार-बार न्योछावर होती थी। मजाल थी, शिवसागर के घर पर रहते कोई उस कुर्सी पर बैठ तो जाए, पर जहां वह घर से बाहर जाते, तो पांचों बेटे उस पर टूट पड़ते। जो पहले अपने बाहुबल से चारों को पराजित कर उस पर बैठता, वहीं से विजयपूर्ण घोषणा करता—'राजगद्दी मेरी।'

आज, उसके पांचों बेटे एक से बढ़कर एक राजगद्दियों पर आसीन थे। सारथी के हाथों से पांचों की लगाम कब की छूट चुकी थी। क्या अब उन्हें घर की उस राजगद्दी की याद आ सकती थी?

उसने कनखियों से पति को देखा, न जाने किस सोच में डूबे थे—ज़रा सा मुंह निकल आया था। घर पर होती तो अब तक उन्हें तीन-चार बार चाय पिला चुकी होती। ऐसे बिना छुटके को बताए क्या उनका यहां आना उचित था?

इतने ही में कार का शब्द सुन दोनों एक साथ चौंके, पार्वती ने

अब तक छाती से चिपकाई दबी पोटली नीचे धर दी। शिवसागर ने रुग्ण पत्नी की भय से फैली तरल पुतलियां देख उसकी ठंडी हथेली, अपने सशक्त पंजे में थामकर, मूक आश्वासन दिया, 'घबरा नहीं पार्वती, कहीं जंगल में तो नहीं आए हैं, हैं तो हमारे बेटे ही का घर।' खट-खट करते जूतों की आहट जितनी ही निकट आ रही थी, पार्वती का पिद्दी सा कलेजा उतनी ही बार धड़क रहा था–धड़, धड़। पूरे दस वर्ष बाद देख रही थी उसे, कितना बदल गया था छुटका–अधपके बाल, खिचड़ी मूंछें, पर अब भी कैसा सजीला लग रहा था नीले सूट में, पीछे-पीछे बहू थी। रंगे होंठ, कटे बाल, संवरा भृकुटि-विलास। उदर-दर्शिनी ब्लाउज़ से निकली मेद बहुल परतें।

बेटे का चेहरा देखते ही शिवसागर समझ गए कि उनका ऐसे बिना पूर्वअभिज्ञता के यहां चले आना बेटे को अच्छा नहीं लगा।

"आपने कुछ लिखा नहीं, एकदम ही चले आए बाबू जी," उसके कंठ की झुंझलाहट कुछ अधिक ही तीखी हो उठी।

"क्यों? चले जाएं क्या?" शिवसागर भी नहले पर दहला थे।

"नहीं-नहीं, कैसी बातें कर रहे हैं आप?" उसने खिसियाकर बात पलट दी, "तार कर दिया होता तो हम स्टेशन पर आ जाते।"

"तुम्हारी अम्मा की क्या हालत हे, देख ही रहे हो। सोचा, जिस ऊंचे ओहदे पर हो, इसे आसानी से डॉक्टरों को दिखा सकोगे, चिट्ठी तो लिखी थी, तुमने जवाब दिया ही कहां?"

"आप नहीं जानते मेरी नौकरी कैसी है। कभी-कभी बारह बजे रात तक घर नहीं आ पाता। फिर यह दिल्ली है बाबू जी, यहां डॉक्टरों से भी महीना भर पहले अपॉइंटमेंट लेना पड़ता है। ख़ैर, आप हाथ-मुंह धोकर कुछ खा-पी लें फिर कल देखी जाएगी।"

"बच्चे कहां है छुटके?" पार्वती ने डरते-डरते ऐसे पूछा जैसे कोई अपराध कर रही हो। छुटका ज़ोर से हंसा, पार्वती के हृदय में ढुलकता

स्मृति-कलश एक बार फिर छलक उठा, ठीक वैसे ही हंसता है अब भी, जैसे पहले हंसता था। सिर पीछे कर आंखें मूंद लेता था हंसने में।

"अब वे बच्चे कहां रहे अम्मा, स्मिता बंबई में एक होटल में रिसेप्शनिस्ट है, आनंद पूना में है, फ़िल्म इंस्टीट्यूट में पढ़ रहा है।" शिवसागर मिश्र के चेहरे की मांसपेशियां तन गईं, "अच्छा, तो भांड ही बना रहे हो बेटे को?"

"कैसी बात कर रहे हैं बाबू जी।" देश की राजधानी का वह वरिष्ठ सेनापति झक्की पिता की बात सुन भन्ना उठा था। बहू ने सास से एक शब्द भी अब तक नहीं कहा, वह ससुर की बात सुनते ही भीतर चली गई। पीछे-पीछे छुटका।

न फिर बेटा ही झांकने आया, न बहू। पलंग बिछाकर नौकर ने ही पूछा, "आप क्या खाएंगे साहब?"

"कुछ नहीं, हम अपना खाना साथ लाए हैं।" शिवसागर को पार्वती ने शंकित दृष्टि से देखा, कहीं फिर कुछ उल्टा-सीधा न कह डालें—आते ही तो बहू-बेटे को नाराज़ कर दिया।

दोनों ही फिर पुत्र की उस सजीली कोठी में, बिना कुछ खाए-पिए ही सो गए थे।

दूसरे दिन शिवसागर की आंखें खुलीं तो पार्वती, दोनों हाथ छाती पर धरे चुपचाप छत को देख रही थी। चेहरा एकदम ही धूसर पड़ गया था। न जाने प्राण कहां टिके थे उसके। कंकाल सी देह पर, मांस की एक पारदर्शी परत मात्र रह गई थी।

"कैसा जी है पार्वती?" उन्होंने बड़े लाड़ से, उसके ललाट पर हाथ धरा और चिहुंककर हटा लिया। ठंडे पसीने से ललाट भोर की भीगी हुई दूब सा आर्द्र था।

"सुनो जी, मुझे आज ही घर ले चलो," उसने पति का हाथ पकड़ लिया, अश्रुवाष्प से उसका कंठ अवरुद्ध हो गया।

एक ही वाक्य में उस निरीह नारी ने अपनी समस्त, संतानजन्य व्यथा उड़ेलकर रख दी थी। वे जानते थे कि वह कितने उत्साह से यहां आई थी। छुटका उसके कलेजे का टुकड़ा था। बार-बार बद्री से उसने कहा था, "देखना, अब की पूरा महीना बच्चों के साथ बिताकर आऊंगी... छुटके से कहूंगी–जब आई ही हूं, तो चल छब्बीस जनवरी का जलसा दिखा ला हमें। दिसंबर तो यहीं बीत गया, दिन ही कितने हैं।"

फिर रात-रात जागकर नाश्ता तैयार किया और कनस्तरी में भरा था बेचारी ने, आज वही रत्नगर्भा कनस्तरी, अनछुई कोने में धरी थी। बहू का उस सुदामा की तंदुल भरी पोटली की ओर भर्त्सनापूर्ण दृष्टिपात शिवसागर ने देख लिया था। पार्वती कितनी ही भोली क्यों न हो, पुत्र के व्यवहार से वह जान गई थी कि उनके आकस्मिक आगमन ने बहू-बेटे को पुलकित नहीं किया है। एक बार पर्दे की आड़ से ही छुटका कह गया, "मैंने अपने पी.ए. से कह दिया है। वह ग्यारह बजे तक आप लोगों को लेने आएगा वही अम्मा के सब टेस्ट्स करवा देगा। अम्मा, आप सुबह कुछ खाइएगा नहीं, सब जांच ख़ाली पेट ही होगी।"

शिवसागर सन्न रह गए थे, मृत्युद्वार पर खड़ी जननी को स्वयं दिखाने का भी समय नहीं है पुत्र को? आधी रात को आंखें खुली तो देखा, पार्वती उकड़ू होकर बैठी, दोनों घुटनों के बीच सिर छिपाए सिसक रही है।

वे हड़बड़ाकर उठे और दोनों हाथों से सिसकती पार्वती पर झुक गए, "क्या बात है पार्वती, कहां तकलीफ़ है?"

"मुझे अभी घर ले चलो जी, यहां मेरा दम घुटा जा रहा है।"

"ठीक है, ठीक है पार्वती, हम कल ही लौट जाएंगे। अभी इतनी रात को तो कोई सवारी भी नहीं मिलेगी, आओ सो जाओ।" उन्होंने उसे ऐसे पुचकारा जैसे किसी अबोध बालिका को पुचकारकर मना रहे हों। आज्ञाकारिणी बालिका सी ही वह चुपचाप पति के पार्श्व में सो गयी और अपने कृशकाय बाहुपाश में उसने पति को ऐसे जकड़ लिया जैसे वह उसे छोड़कर कहीं भाग रहा हो। ऐसा तो उसने पहले कभी नहीं किया था, एक अज्ञात आशंका से शिवसागर का हृदय कांप उठा, यह कैसा बचपना कर रही थी वह? क्या किसी चिरंतन वियोग की आशंका ही उसे ऐसे त्रस्त कर रही थी, या बेटे-बहू की बेरुख़ी से डरकर वह भयभीत कपोती सी उसे ऐसे जकड़े जा रही थी? उसकी दुबली-पतली देह का अविराम कंपन, स्वयं दीर्घदेही शिवसागर की चट्टान सी देह को थरथर कंपा रहा था। तब क्या यही मृत्युकंप था? कभी-कभी वह फुसफुसाकर कहती, "वह आ रहे हैं, वह देखो, वहां।"

"कहां, कौन आ रहे हैं पार्वती? यहां तो कोई भी नहीं है। रुको, मैं बत्ती जला दूं।" किसी तरह उसके बाहुपाश से अपने को मुक्त कर शिवसागर उस अनजान कमरे की परिक्रमा कर दीवारों पर स्विच ढूंढ़ने लगे और द्वार से टकरा गए। ललाट पर गूमड़ उभर आया पर स्विच नहीं मिला। हारकर वे पार्वती के पास आकर लेट गए, वह चुपचाप पड़ी थी। क्लांत, टूटी, निश्चेष्ट।

कहीं सब कुछ शेष तो नहीं हो गया? घबराकर उन्होंने अपनी हथेली उसकी नाक से सटा ली–नहीं, सांस चल रही थी।

"हे भगवान, यदि मैंने जीवन भर कोई पाप नहीं किया हो तो इसे इस घर में कुछ न हो, यह उसी घर से जाए, जहां इसकी स्मृतियों से भरा अशर्फ़ियों का घड़ा गड़ा है।"

भोर हो गई थी। सहसा कहीं कौए एक साथ कांव-कांव कर उठे। सड़क पर दो-तीन कुत्ते विकृत स्वर में विलाप कर उठे, एक टिट्टिभ

चीख़ती आकाश की शून्यता को चीरती निकल गई। सूर्य की पहली किरण पार्वती के सफ़ेद चेहरे पर पड़ी, आश्विन के श्वेत फेनिल मेघ ही जैसे उसके चेहरे पर आकर बिखर गए थे। अपनी देह पर झुके चिंतातुर चेहरे को देख उसने हंसने की चेष्टा की पर ललाट पीड़ा से संकुचित हो गया। "क्या बात है पार्वती, बहुत कमज़ोरी लग रही है ना।"

एक बार उसके कांपते अधर फिर दयनीय चिरौरी में सिमट गए, "अब तो भोर हो गई, मुझे घर ले चलो जी।"

"ठीक है, तुम लेटी रहो, अभी सब सो रहे हैं, जागने पर जाने नहीं देंगे। मैं सवारी ले आता हूं।" फिर थोड़ी ही देर में शिवसागर स्कूटर ले आए, घर से बाहर ही रुकवा आए थे, जिससे उसकी खर्र-खर्र से कोई जाग न पड़े। ऐसी हालत में पार्वती को बिना आरक्षण के कैसे ले जा पाएंगे, यह बात भी सोचने का अवकाश नहीं था उन्हें, पहले सामान धरा, फिर क्रुद्ध आशुतोष से पत्नी की देह कंधे पर डाल वे स्कूटर में बैठ गए।

यार्ड में खड़ी ट्रेन सहारनपुर जा रही थी, टिकट लेकर उसी में बैठ गए। जाए किसी भी पुर यह मनहूस शहर तो पीछे छूटेगा। उस धूल का एक-एक कण बिच्छू बना उन्हें हर पल डंक दे रहा था। इस शहर को छोड़ते ही पार्वती ठीक हो जाएगी। उनका अनुमान ठीक था। गाड़ी के चलते ही पार्वती उनकी गोद में सिर धर गहरी नींद में डूब गई।

न जाने कितनी बार गाड़ी बदली, कभी ट्रेन और कभी बस में लंबा सफ़र तय कर दोनों अपने घर पहुंचे तो रात हो आई थी। अब कैसा भय! कुंभीपाक नर्क से निकल अब वे दोनों अपने नंदन कानन में पहुंच गए थे। यहां से उनकी पार्वती को खींच ले जाएं इत्ते बाल थे क्या यमराज की छाती में?

दूसरे दिन तड़के ही बद्री आ गए, शिवसागर कुछ न पूछे जाने पर भी निरंतर पुत्र के वैभव का वर्णन किए जा रहे थे—"दो-दो कारें खड़ी रहती हैं दरवाज़े, एक दफ़्तर की दूसरी अपनी। बहुत बड़ी कोठी है, पर पैर कहां टिक पाता है बेचारे का। अभी प्रधानमंत्री के साथ जापान गया, उससे पहले वॉशिंगटन। बहुत मानते हैं उसे।"

"अब चुप भी करो साले, दाई से पेट नहीं छिपता है! हम जान गए हैं कि खोटे सिक्के से ही फेर दिए गए हो। हम क्या इन अफ़सर बेटों को नहीं जानते? पर हमें बुरा यह लग रहा है बिरादर, हमारे चंदर ने और उसकी बहू ने हमें कान पकड़कर निकाल बाहर किया, तो हमने चट तुमसे सब उगल दिया। एक तुम हो कि हमीं को उल्लू बनाए जा रहे हो।" मुंहफट मित्र का उपालंभ दोनों को निर्वाक बना गया।

"ठीक कहते हो बद्री, हम इससे रास्ते भर यही कहते रहे कि तुझे गांववालों ने पूतोंवाली का ख़िताब दिया, इससे तो निपूती कहा होता। वह जो कविता हमने बचपन में पढ़ी थी बद्री, कि:

पांच पूत रामा बुढ़िया के, बाक़ी बचा न एक वही हो गया हमारे साथ।"

"चुप भी करो," पार्वती का क्षीण स्वर भी एक पल को तीखा हो उठा, "ऐसी अमंगली बात मुंह से मत निकालो, पांच-पांच बेटों के रहते मैं क्यों निपूती होने लगी?"

"मैं जानता हूं बिरादर," बद्री ने अधजली बीड़ी रगड़कर बुझा कान में खोंस ली। भाभी को बीड़ी का कड़वा धुआं बहुत बुरा लगता था, "यह दर्द कभी जाता नहीं, औलाद की दाग़ी गई गोली, चिता में चढ़ने तक कलेजे ही में धंसी रहती है," उसी गोली को कलेजे में लिए बद्री, पिछले दस सालों से ऐसे ही घूम रहे थे। ठीक दस वर्ष पूर्व वे भी पुत्र के बिन बुलाए पाहुने बनकर गए थे। बंबई का नाम

तो सुना था पर कभी वहां जा भी पाएंगे, यह बात उन्होंने सपने में भी नहीं सोची थी, बेटे ने विवाह अपनी ही पसंद का किया था, पर लड़की अपने ही समाज की थी। तीन-चार साल तक कभी-कभार बेटा बूढ़े बाप को आकर देख जाता पर अपने साथ रहने का आग्रह न बेटे ने किया, न बहू ने। अब तो उन्हें अपने विधुर जीवन की आदत पड़ गई थी पर तब घरनी गई ही थी, घर काटने को दौड़ता। फिर उन्हें पौत्र जन्म का तार मिला। ख़ुशी से बौरा ही गए थे बद्री। पांच रुपए के बताशे मंगवा, सारे गांव की नाते-रिश्तेदार की स्त्रियों को न्योत, सोहर भी गवा लिए थे।

"कब जा रहे हो बद्री काका, पोता देखने? तनी यहां तो बुलाओ ना, हम भी देख लें।"

"जाएंगे-जाएंगे, ऐसी जल्दी क्या है, अभी तो बहू अस्पताल ही में है, आराम से जाएंगे।"

पर जाने की वह तिथि कभी नहीं आई। एक-एक कर बच्चे के दो जन्मदिन बीत गए। फिर तीसरे जन्मदिन में वे स्वयं कुछ देहाती फूहड़ स्वेटर और रंग-बिरंगे कनटोप लेकर पहुंच गए थे। बुद्धिमानी यही की थी कि आने का तार दे दिया था, नहीं तो कहां भटकते उस सुरसा से मुंह फैलाए शहर में। उन्हें लेने बहू-बेटे स्टेशन आए भी थे, पर दोनों का चेहरा पिता के देहाती लिबास को देखकर लटक गया था। पीली पड़ गई धोती, नीली फूलदार मिर्जई निरंतर तेल-मर्दन से एकदम काली पड़ गई थी, पैरों में चमरौंधा जूता और वीभत्स टीन का बक्सा। क्या बंगला था चंदर का और कैसी सजावट! आया पोते का हाथ पकड़कर घुमा रही थी। उन्होंने झट से पोते की बंद मुट्ठी में पांच का तुड़ा नोट थमाया तो कलमुंही आया मुंह फेरकर हंसने लगी—उसने इस बच्चे की पहली नैपी धोने का नेग ही एक सौ एक रुपया लिया था। फिर तो दूसरे ही दिन से मिर्जई कनटोप पहन बद्री

दूबे, निरंकुश मस्ती में पुत्र की कोठी का चक्कर लगाने लगे। कभी चौकीदार से बतियाते, कभी नौकर से, कभी नन्हे पोते पर प्यार उमड़ता कि उसे चूमचाटकर बेहाल कर देते। उनकी इन सस्ती हरकतों से बहू का ख़ून खौल उठता।

सुबह उठते तो साथ लाई दातूनों के गट्ठर से एक निकाल, घंटों चबाते, कान पर जनेऊ डाले घूमते रहते। फिर पूरे हाथ को कंठनली में डाल विचित्र भयावह शब्द करते खखारते और फिर लॉन की झाड़ियों के पीछे ही लघुशंका से निवृत्त होने बैठ जाते। खाना अपने कमरे में ही खाते। महीने का आटा आठ ही दिन में साफ़ होने लगा। रोटियों पर रोटियां दागते चले जाते, उस पर कहते, "भई, तुम्हारी बंबई की सब्ज़ियों में स्वाद नहीं है।"

"स्वाद होता तो पता नहीं कितना भकोसते।" बहू की हड्डियां जलभुनकर ख़ाक हो जातीं, यह सब सुनकर पूरे पंद्रह दिन बीत गए, तब ही यह भयंकर दुर्घटना घट गई थी। कोका-कोला बद्री दूबे ने कभी पिया नहीं था, बेटे के यहां पूरा क्रेट धरा रहता। पहले-पहल तो बड़े संकोच से कभी-कभार एक-आध बोतल पी लेते पर एक दिन घर पर अकेले ही थे, इधर-उधर देख आधा क्रेट ही रिक्त कर दिया उन्होंने। घूम-घामकर बेहद थक गए थे, रात को सोए तो गहरी नींद आ गई। फिर सोते में पेशाब कर बैठे।

"साहब, चाय," कहकर बेटे का नौकर सिरहाने चाय का गिलास थामे खड़ा था, वे हड़बड़ाकर उठ बैठे। दुष्टता से मुस्कराता नौकर बड़े मनोयोग से उस जलकुंड को देख रहा था। बुढ़ापे में कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है, यह बात पच्चीस बरस का मुस्टंडा क्या समझता।

वे खिसियाए, गुसलख़ाने में भीगी चादर धोने जा ही रहे थे कि बहू-बेटे दोनों तमतमाया चेहरा लेकर उनके कमरे में आ गए, "छि-छि बाबू जी, आप क्या यहां हमारी नाक कटवाने ही आए थे? सब नौकर

हंस रहे हैं। मुंह दिखाने लायक़ नहीं रखा हमें। लीजिए।'' सौ-सौ के तीन नोट उनकी मेज़ पर पटक चंदर ने कहा, ''मैंने ड्राइवर से कह दिया है, दस बजे गाड़ी जानी है, आपको बिठा आएगा।'' बद्री दूबे का चेहरा तमतमा उठा, उन्होंने मुंह नहीं खोला। चादर वहीं पटकी और अपना इधर-उधर फैला सामान थैले में भरने लगे। फिर बिना बहू-बेटे की ओर एक बार भी देखे, वे अपने भद्दे जूते फटफटाते बाहर निकल गए। इसके बाद उन्होंने कभी पैर गांव से बाहर नहीं निकाला।

''अब यहां से सीधे घाट ही जाएंगे बिरादर, समझे? हमारे लिए चंदर मर गया, मर गया उसका बेटा और उसकी बहू। निपूते हो गए हैं हम और आज पूतोंवाली पार्वती भी उनकी बिरादरी में आ गई।''

संध्या होते ही पार्वती की हालत में और सुधार हो गया। उसने स्वयं मांगकर कटोरा दूध पिया, बिस्तर पर ही कंघी-चोटी की, भीगे गमछे से मुंह पोंछा, बड़ी सी टिकुली लगाई, सांग भरी, फिर हंसकर दोनों मित्रों से कहा, ''जाइए, आप लोग टहल-वहल आइए, रोज़ाना जैसे जाते हैं, हम अब ठीक हैं।'' दोनों निश्चित हो, कुंडी चढ़ा घूमने निकल गए। मंगल था, महावीर जी के दर्शन किए, प्रसाद चढ़ाया और लौट पड़े। रास्ते भर बेटे-बहुओं के दुर्व्यवहार की व्याख्या के पारस्परिक आदान-प्रदान से दोनों के चित फूल के हल्के हो गए थे।

कुंडी खोलकर भीतर गए तो मूर्तिवत खड़े ही रह गए। पूरा शृंगार किए पूतोंवाली धरा पर पड़ी थी।

शिवसागर जैसे पत्थर बन गए थे, न आंखों में आंसू, न अधरों पर कंपन। वह ध्यानमग्न उस जितेंद्रिय सिद्ध से पार्वती के सिरहाने अडिग बैठे थे, जिसने अपनी तस्कर रूपी छहों इंद्रियों को पालतू कुत्ते सा बांध लिया हो।

''जोर से रोकर निकाल दो सब दरद, नहीं तो पगला जाओगे।''

पर वे नहीं रोए। एकटक क्या देख रहे थे उस निश्चेष्ट देह में?

पूरी रात ऐसे ही कट गई थी। इस बिछोह की घड़ी में वे किसी प्रकार का व्याघात नहीं चाहते थे। सुबह होते ही बद्री दूबे खड़े हो गए थे। "बेटों का पता दे दो, ख़बर करनी होगी।"

"नहीं," मेघ से गरज पड़े थे शिवसागर मिश्र, "मेरा कोई बेटा नहीं है, निपूती ही रही, उसे निपूती ही जाने दो।"

ख़बर पाते ही पूरा गांव उमड़ पड़ा था—पैरों की धूल लेने गांव की बहू-बेटियां एक-दूसरे पर गिरी जा रही थीं।

"पूतोंवाली काकी सुहागन चिता चढ़ रही है, अरी सब पैर छू लो," बड़ी-बूढ़ियां कह रही थीं।

मुट्ठी भर की देह को भस्मीभूत होने में आधा घंटा भी नहीं लगा। दोनों मित्र हारे-थके जुआरी से घर लौटे तो संध्या सघन हो चुकी थी। अर्थी के कुछ मुरझाए फूल अभी भी देहरी पर पड़े थे—बाहर झमाझम पानी बरसने लगा था। बीच-बीच में बिजली की चमक आंखें चौधियां रही थीं। तभी दिल-दहलाने वाली गर्जना के साथ कहीं बिजली गिरी।

"वह पहुंच गई।" उन्मुख लाल-लाल आंखों से बद्री को देख, शिवसागर मिश्र ने पहली बार मुंह खोला।

"कौन?" आश्चर्य से मित्र की विचित्र दृष्टि और उससे भी विचित्र मुस्कान से त्रस्त होकर बद्री ने पूछा, "कौन पहुंच गई है?"

"पूतोंवाली, वहां।" कह शिवसागर ने अपनी प्रलंब भुजा आकाश की ओर उठा दी।

शिवानी के उपन्यास, लघु कहानियां व स्तंभ घर-घर में पढ़े जाते थे। इस लोकप्रिय लेखिका के पीछे छिपे चेहरे को उनकी पुत्री इरा पांडे ने 'दिद्दीः हमारी मां शिवानी' में दर्शाते हुए अपनी मां की एक अनोखी झलक पाठकों के सम्मुख रखी है। मां-बेटी के अटूट रिश्ते को उकेरती यह कहानी शिवानी के उपन्यासों से कम दिलचस्प नहीं है।

पाठकों को इस पुस्तक में शिवानी की ज़िंदगी से जुड़े कई अनोखे रिश्तेदारों, मित्रों व अनेक रंगीन पात्रों से रूबरू कराती हुई इरा एक पूरे ज़माने को याद करवा देती हैं। हम एक ऐसे परिवार से अवगत होते हैं जिसके कई पात्र हमें अपने परिवारों के सदस्य लगने लगते हैं। इरा अपने परिवार के उन सुशिक्षित-सुशिष्ट सदस्यों का अभिनंदन करती हैं, जिनमें कुछ ख़ब्ती, फक्कड़ प्राणी भी थे और कुछ बेहद प्रतिभाशाली लेखक भी।

सामंतशाही व संयुक्त परिवार प्रणाली के गुज़र जाने के बाद कुमाऊं के गर्वोन्नमत्त ब्राह्मण परिवारों का भी चित्र हमें मिलता हैः जब विशाल परिवार टूटकर धीरे-धीरे एकल परिवारों में तब्दील हो गए, और पुरानी रीतियां टूटती चली गईं।

'दिद्दीः हमारी मां शिवानी' आत्मकथ्य और कथा का अद्भुत संयोजन है।

Diddi: My Mother's Voice, Ira Pande

आवरण डिज़ाइनः आदित्य पाण्डे
आवरण फ़ोटोः शंभू साहा

पेंगुइन संस्मरण (Hindi)
रु. 175
www.penguinbooksindia.com

ISBN 978-0-14-306444-2